अपनी बात

आध्यात्म के प्राण आचार्य कुन्द कुन्द के ग्रन्थो मे से यह प्रवचन सार परमागम उत्कृष्ट श्रेणी का ग्रन्थ है। ज्ञान तत्व व ज्ञेय तत्व का तथा साथमे चारित्र का जितना सुन्दर विवेचन इस ग्रन्थ राज मे है सारे जिनागय मे अन्यत्र देखने को सुलभ नही है। हम भाग्यशाली हैं कि हमे आचार्य परम्परा का ज्ञान तथा विदेह क्षेत्र के विघ्यमान तीर्थंकर सीमदर भगवान की देशना का दोहरा लाभ आचार्य कुन्द कुन्द द्वारा प्राप्त हुआ। आचार्य कुन्द कुन्द यदि विदेह न जाते तो यह ज्ञान हमे सुलभ न होता। उपलब्ध शिला-लेखो व साहित्य के अनुसार आचार्य कुन्द कुन्द ने ८४ पाहुडो की रचना की थी किन्तु हमारा दुर्भाग्य है कि उनका सम्पूर्ण वाग्डमय आज हमे उपलब्ध नही है। लेकिन फिर भी जो कुछ हमे उपलब्ध है अपने आप मे पूर्ण है।

आचार्य कुन्द कुन्द का समय विक्रम की पहली शताब्दी है। कुन्द कुन्द ने अपने जीवन काल मे कभी भी वस्त्र धारण नहीं किया ११ वर्ष की आयु मे उन्होने जैनश्वरी दीक्षा ले ली थी तथा ६४ वर्ष की आयु तक (विक्रम सम्वत् ४६ तक) घूम-घूम कर नगर नगर गाव गाव मे उन्होने तत्व ज्ञान सद्उपदेश भव्य प्राणियो को दिया।

प्रवचन सार पर सस्कृत मे दो टीकाए उपलब्ध है पहली आचार्य अमृतचन्द्र की दूसरी जयसेन आचार्य की अमृतचन्द्र की टीका का हिन्दी अनुवाद आगरा निवासी प० हेमराज जी का उप-

लब्ध था किन्तु जयसेन आचार्य की हिन्दी टीका उपलब्ध नही थी सर्व प्रथम वीर सम्वत् २४५० मे ब्रम्हचारी शीतल प्रसाद जी द्वारा विरचित हिन्दी टीका सूरत से प्रकाशित हुई थी उसी टीका के आधार पर गाथा के भाव स्वाध्याय प्रेमियो के हाथो मे उपलब्ध है अपनी ओर से इसमे कुछ भी जोडा नहीं गया है फिर भी सामान्य अथवा सिद्धान्तिक कोई त्रुटि रह गई हो तो विज्ञ लोग क्षमा करेगे तथा आगम के आधार पर सही कर लेगे।

श्री मोतीचन्दजी चादकीका की हार्दिक भावना थी कि यह ग्रन्थराज उनके जीवनकाल मे मुद्रित होकर जिज्ञासू पाठको के हाथ मे पहुच जावे किन्तु उनकी यह अभिलाषा पूर्ण न होसकी इस ग्रन्थराज के मात्र १०० पृष्ट ही मुद्रित हो पाये थे कि काल ने आकर उन्हे घर दवोचा। उनकी इच्छा व अभिलाषा की पूर्ती हेतु ही उनकी धर्मपत्नि श्रीमती कन्चनदेवी, पुत्र सर्वश्री जौहरीलाल, रतनलाल, अरुणकुमार, अनिलकुमार व श्री सुनीलकुमार ने उनकी मृत्यु के वाद इस कार्य को अति शीघ्र पूरा कराने का निश्चय किया तदनुसार इसका प्रथम खण्ड ज्ञानतत्व आपके समक्ष है निश्चय ही ये सव वधाई के पात्र हैं। सत्य तो यह है कि भव्य प्राणियो का द्रव्य भव्य प्राणियो के लिए ससार समुद्र से तिर जाने मे ही निमित होता है।

मुद्रण के कार्य मे श्री रमेशचन्द्र अजमेरा मालिक अजमेरा प्रिटिग वर्क्स ने जो सहयोग दिया है वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

ज्ञान समान न आन जगत मे सुख को कारण।
इह परमामृत जन्म जरा मृतु रोग निवारक॥

विनयचन्द पापड़ीवाल

श्रीमोतीचन्द जी चांदकीका (गोधा)
स्वर्गवास 14-12-87

श्रीकुन्दकुन्दस्वामी विरचित—

श्रीप्रवचनसार भाषाटीका।

दोहा--परमातम आनंदमय, ज्ञान ज्योतिमय सार।
भोगत निज सुख आपसे, आपी में अविकार॥

अष्ट करमको नष्ट कर, निज स्वभाव झलकाय।
परम सिद्ध निजमें रमी, वंदहुं मनमें ध्याय॥
परम पूज्य अरहंत गुरु, जिनेवाणीके नाथ।
सकल शुद्ध परमात्मा, नमहुं जोड़ निज हाथ।
रिषभ आदि महावीर लो, चौबीसो जिन राय॥
परम शूर शुद्धात्मा, नमहुं नमहुं गुण गाय॥
गौतम गणके ईश मुनि जंबू और सुधर्म।
पंचम् युग केवलि भए प्रगटायो जिन धर्म॥
कर प्रणाम अर नमनकर, श्रुत केवलि समुदाय।
अंग पाठि मुनिवर सबै, निज पर तत्व लखाय॥
कुन्द कुन्द आचार्यके, गुण सुमरूं हरबार।
जिनके वचन प्रमाण हैं, जिनवर वच अनुसार॥

सार तत्व निज आतमा, दिखलावन रविसार ।
संशय विभ्रम मोह तम, हरण परम अविकार ॥
जा जाने श्रद्धे विना, पथ सम्यक् न लखाय ।
तिस आतमका भाव सब, भिन्न भिन्न दरशाय ॥
स्वसंवित्तिसे सार सुख, भोग भोग हुलशाय ।
अन्य भव्य पर कृपा कर, मारग दियो वताय ॥
तिस गुरुका आगम परम, है एक प्रवचन सार ।
तत्त्वामृत, टीका रची, संस्कृतमें गुणकार ॥
द्वितीय वृत्ति जयसेनने, लिख निज सुधा वहाय ।
ताका पय कर सुखभवो, रुचि वाढी अधिकाय ॥
प्रथम वृत्ति भाषा करो, हेमराज बुधवान ।
द्वितीय वृत्ति भाषा नहीं, हुई अव तक यह जान ॥
मंद बुद्धि पर रुचि घनी, ताके ही परसाद ।
वालवोध भाषा लिखूं, कर प्रमादको वाद ॥
निज अनुभवके कारणे, पर अनुभवके काज ।
जो कछु उद्यम वन पड़ा, है सहाय जिनराज ॥

श्लोक—नमः परमचैतन्यस्वात्मोत्थसुखसम्पदे ।
परमागमसाराय सिद्धाय परमेष्ठिने ॥ १ ॥

अर्थ—यद्यपि यहां टीकाकारके इन शब्दोंसे यह झलकता है कि शिवकुमारजी आगेका कथन करते हैं परन्तु ऐसा नहीं है। आगेके व्याख्यानोंसे झलकता है कि स्वामी कुंदकुंदाचार्य ही इस ग्रन्थके कर्त्ता हैं तथा शिवकुमारजी मुख्य प्रश्नकर्त्ता हैं— शिवकुमारजीको ही उद्देश्यमे लेकर आचार्यने यह ग्रन्थ रचा है,।

गाथा—

एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं।
पणमामि वड्ढमाणं, तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥१॥

संस्कृत छाया—

एष सुरासुरमनुष्येन्द्रवन्दितं धौतघातिकर्ममलम्।
प्रणमामि वर्धमानं तीर्थं धर्मस्य कर्तारम् ॥ १ ॥

अर्थ—यहां ग्रन्थकर्ता श्रीकुंदकुंदाचार्य देवने ग्रन्थकी आदिमें मंगलाचरण इसीलिये किया है कि जिस धर्म तीर्थके स्वामी श्री वर्द्धमान स्वामी थे उसी धर्मका वर्णन करनेमें उन्हींके गुण और उपदेशोंमें हमारा मन लवलीन रहे जिससे सम्यक् प्रकार उस धर्मका वर्णन किया जासके। यह तो मुख्य प्रयोजन मंगलाचरणका है तथा शिष्टाचार का पालन और अंतराय आदि पाप प्रकृतियोंके अनुभागका हीनपना जिससे प्रारम्भिक कार्यमें विघ्न न हो गौण प्रयोजन है। महान् पुरुषोंका नाम लेना और उनके गुणोंको स्मरण करना उसी समय मनको अन्य चिन्तवनोंसे हटाकर उस महापुरुषके गुणोंमें तन्मय कर देता है जिनमें परिणाम या उपयोग पहलेकी अपेक्षा उस समय अधिक विशुद्ध हो जाता है—उसी विशुद्ध उपयोग से धर्मभावनामें सहायता मिलती जाती है। जबतक इस क्षेत्रमें दूसरे तीर्थकर द्वारा उपदेश न हो तबतक श्री वर्द्धमान स्वामीका शासनकाल समझा जाता है। वर्तमानमें जो गुरु द्वारा या आगम द्वारा उपदेश प्राप्त हो रहा है उसके साक्षात् प्रवर्त्तक श्री वर्द्धमान स्वामी हुए हैं। इसीसे उनके महत् उपकारको स्मरणकर आचार्यने चौवीसवें तीर्थंकर श्री वर्द्धमान भगवानको नमस्कार किया है। क्योंकि गुणों हीके द्वारा कोई व्यक्ति पूज्य होता है तथा गुणोंका ही असर स्मरण करनेवालेके चित्तमें पडता है। इसलिये आचार्यने गाथामें श्री वर्द्धमान स्वामीके कई विशेषण दिये हैं। पहला विशेषण देकर यह दिखलाया

है कि प्रभुके गुणोका इतना महत्व है कि जिनके चरणोको चार तरहके देवोंके सब इन्द्र नमन करते हैं तथा चक्रवर्ती राजा भी नमस्कार करते हैं। इससे यह भाव भी सूचित किया है कि हमारे लिये आदर्शरूप एक अरहत भगवान ही हैं—किन्तु कषाय रूप अतरग और वस्त्रादि बाह्य सामग्री रूप बाह्य परिग्रह धारी कोई भी देव या मनुष्य नही इसीलिये हमको श्री अरहत भगवानमे ही सुदेवपनेकी बुद्धि रखकर उन्हीका पूजन, मनन तथा भजन करना चाहिये। दूसरे विशेषणसे श्री अरहत भगवानका अतरग गौरव बताया है कि जिन चार घातिया कर्मोंने हम ससारी आत्माओकी शक्तियोको छिपा रक्खा है उन घातिया कर्मोका नाशकर प्रभूने आत्माके स्वाभाविक विशेष गुणोको प्रकाश कर दिया हैं। अनत ज्ञान और अनन्त दर्शनसे वह प्रभु सर्व लोक अलोकके पदार्थोको उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायोके साथ विना क्रमके एक ही समयमे जान रहे हैं। उनको किसी पदार्थके किसी गुणके जाननेकी चिन्ता नही रहती। वह सर्वको जानकर परम सतुष्ट हैं। जैसे कोई विद्वान अनेक शास्त्रोका मरमी होकर उनके ज्ञानसे सन्तुष्ट रहता है और उनकी तरफ लक्ष्य न देते हुए भी भोजन व भजनमे उपयुक्त होनेपर भी उन शास्त्रोका ज्ञाता कहलाता है वैसे केवली भगवान सर्व ज्ञेयोको जानते हुए भी उनकी तरफ उपयुक्त नही है। उपयुक्त अपने आपमे ही अपने स्वभावसे हैं इसीलिये अपने आनन्दमई अमृतके स्वादी होरहे हैं। न उनको किसी ज्ञेयके जाननेकी न किसी ज्ञेयके भोगनेकी चिंता है। वे परम तृप्त हैं। अनत वीर्य्यके प्रगट होनेसे वे प्रभु अपने स्वभावका विलास करते हुए तथा स्वमुख स्वाद लेते हुए कभी भी थकन, निर्बलता तथा अनुत्साहको प्राप्त नही होते हैं। न उनके शरीरकी निर्बलता होती है और न उस निर्बलताके कारण कोई आत्मामे खेद होता है। इसीलिये प्रभुके उपयोगमे कभी भी भूख प्यासकी

चाहकी दाह पैदा नही होती, विना चाहकी दाहके वे प्रभु मुनिवत् भिक्षार्थ जाते नही और न भोजन करते हैं। वे प्रभु तो स्वात्मामे पूर्ण तरह मस्त हैं। उनके कोई सकल्प विकल्प नही होते हैं। उनका शरीर भी तपके कारणसे अति उच्च परमौदारिक हो जाता है। उस शरीरको पुष्टि देनेवाली आहारक वर्गणाए अतराय कर्मके क्षयसे विना विघ्नके आती है और शरीरमे मिश्रण होकर उसी तरह शरीरको पुष्ट करती है जिस तरह वृक्षादिके विना मुखसे खाए हुए मिट्टी, जलादि सामग्रीका ग्रहण होता और वृक्षादिका देह पुष्ट होता है। वे समाधिस्थ योगी साधारण मानुषीय व्यवहारसे दूरवर्ती जीवनमुक्त परमात्मा हो गए हैं। अनत वल उनको कभी भी असतुष्ट या क्षीण नही अनुभव कराता। अनत सुख प्रगट होनेसे वे प्रभु पूर्ण आत्मानदको विना किसी विघ्नवाधा या व्युच्छित्तिके भोगते रहते हैं। मोहनीय कर्मके क्षय होजानेसे प्रभुके क्षायिक सम्यक्त तथा क्षायिक चारित्र विद्यमान है जिससे स्वस्वरूपके पूर्ण श्रद्धानी तथा वीतरागतामे पूर्ण तन्मय हैं। वास्तवमे चार घातिया कर्मोसे मलीन आत्माओके लिये चार घातिया कर्मोसे रहित अरहत परमात्मा ही उपादेय या भक्तिके योग्य होसक्ते हैं। तीसरे विशेषणसे यह वताया गया है कि प्रभुने हम जीवोका वहुत वडा उपकार किया है अर्थात् जिस धर्मसे जीव उत्तम सुखको प्राप्त करे ऐसे सम्यक् धर्मको उन्होने अपनी दिव्य वाणीसे प्रकाश किया है। इस विशेषणसे आचार्यने यह भी प्रगट किया है कि सशरीर परमात्मा हीके द्वारा निर्वाध और हित रूप धर्मका उपदेश हो सकता है। वचन वर्गणाएं पुग्दलमई हैं उनका शब्द रूप संगठन अथवा उनका प्रकाश शरीर रहित अमूर्तीक परमात्मासे नही हो सकता है। इसलिये शरीर रहित सिद्ध परमात्मा हितोपदेश रूपी गुणसे विशिष्ट नहीं माने जाते किन्तु शरीर सहित अर्हंत भगवान् सर्वज्ञ और वीतराग होनेके

सिवाय हितोपदेशी भी माने जाते हैं। चौथे विशेषणसे यह वताया है कि श्री वर्द्धमानस्वामी तीर्थ तुल्य हैं अथवा तीर्थकर पद-विशिप्ट हैं। जेसे तीर्थ या जहाज स्वयं तिरता है और दूसरोंके पार होनेमें सहाई होता है वैसे अरहंत भगवान स्वयं संसार-सागरसे पार हो स्वाधीन मुक्त होजाते हैं और उनका शरण लेकर जो उन्हींके समान हो उन्हींके सदृश आचरण करते है वे भी भव उदधिसे पार उतर जाते हैं। अथवा वे वर्द्धमान स्वामी सामान्य केवली नहीं हैं किन्तु विशेप पुण्यात्मा है-तीर्थकर पद धारी हैं-जिन्होंन पूर्वकालमें १६ कारण भावनाओंके द्वारा जगत का सम्यक् हित विचारा जिससे तीर्थकर नाम कर्म वांधा और तीर्थकर पदमें अपने विहारसे अनेक जीवोंको परम मार्ग दर्शाकर उनका परम कल्याण किया। ऐसे चार गुण विशिप्ट वर्द्धमान स्वामीको उनके गुण स्मरणरूप भाव और वचन काय नमन रूप द्रव्य नमस्कार किया है। इस मंगलाचरणसे आचार्यने अपनी प्रमाणता भी प्रगट की है कि हम श्री वर्द्धमान तीर्थकरके ही अनु-यायी हैं और उन्हींके ज्ञान समुद्रका एक विंदु लेकर हमने अपना हित किया है तथा परहितार्थ कुछ कहनेका उद्यम वाधा है।

सेसे पुण तित्थयरे, ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे।
समणे य णाणदंसणचरित्ततववोरियायारे ॥२॥

शेपान् पुनस्तीर्थकरान् ससर्वसिद्धान् विशुद्धसद्भावान्।
श्रमणांश्च ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारान् ॥ २ ॥

अर्थ :—इस गाथामें आचार्यने अनादि णमोकार मंत्रकीपूर्ति की है। इस पैंतीस अक्षरी मंत्रमें मुक्ति के साधनमें आदर्श रूप सहकारी कारण ऐसे पांच परमेयिप्ठोंको स्मरण किया है। सम्पूर्ण जगत विषय कपायोंके वश होकर मोक्षमार्गकी चर्य्यासे बाहर हो रहा है। वास्तवमें सम्यग्चारित्र ही पूज्य है। जो संसारसे उदासीन होजाते हैं उनके ही चारित्रका पालन योग्यतासे होता है। जो

इन्द्रियो के सर्व विषयभोगो से रहित हो स्वप्नमे भी इन्द्रियोके विषयोकी चाह नही करते है किन्तु केवल शरीरकी स्थितिके लिये सरस नीरस जो भोजन गृहस्थ श्रावकने अपने कुटुम्बके लिये तय्यार किया है उसीमेसे दिनमे एक दफे लेते हैं और रात्रिदिन परम आत्माकी भावनामे तल्लीन रहते हैं। जब ध्यान नही कर सकते तब स्वाध्याय करते है। जो महात्मा परम दयावान हैं, त्रस स्थावर सर्व प्राणियोके रक्षक है जिनके गृहस्थके वस्त्र आभूषण आदिका त्याग है ऐसे महान आत्माओ को अंतरात्मा यती कहते हैं। ये ही यती सम्यग्दर्शनकी दृढताके लिये नित्य अरहंत, सिद्ध भक्ति करते तथा स्तवन और वंदना इन दो आवश्यक कार्योको करते है। सम्यग्ज्ञानकी दृढताके लिये जिनवाणीका नित्य पठन करते हैं। सम्यक्चारित्रकी पुष्टताके लिये अहिंसादि ५ महाव्रतोको, ईर्या समिति आदि ५ समितियोको तथा मनवचनकाय दंडरूप तीन गुप्तियोको इस तरह तेरह प्रकारका चारित्र बड़ी भक्तिसे दोष रहित पालते हैं। इन नग्न दिगम्बर निर्ग्रंथो मे जो सर्व साधुओंको गुरु होते हैं तथा जो दीक्षा शिक्षा देते हैं उनको आचार्य्य कहते हैं। जो साधु शास्त्रोके पठनपाठनको चारुरीतिसे सम्पादन करते हैं उनको उपाध्याय तथा जो इन पदोसे बाहर है और यथार्थ मुनिका चारित्र पालते हैं वे साधु सज्ञामे लिये जाते है। इन तीनोको अंत-रात्मा कहते हैं-ये उत्कृष्ट अंतरात्मा हैं। इसी साधु पदमे साधन करते करते यह जीव शुक्ल ध्यानके बलसे चार घातिया कर्म, नाशकर अरहंत केवली होजाता है तथा वही अरहंत शेष अघातिया कर्मोका नाशकर सर्व तरह पुद्गलसे छूटकर सिद्ध परमात्मा हो जाता है-सिद्धको निकल अथवा अशरीर परमात्मा तथा अरहंतको सकल अथवा सशरीर परमात्मा कहते हैं। हरएक मनुष्यकी आत्माकी उन्नतिके लिये यथार्थ देव, गुरु, शास्त्रकी सहायताकी आवश्यक्ता है। सो इन पांच परमेष्ठियोंमे अरहंत और सिद्धको पूज्य देव

और आचार्य उपाध्याय, साधुको गुरु तथा देवके उपदेशके अनुसार स्वय चलनेवाले और तदनुसार शास्त्ररचना करने वाले आचार्योंके रचे हुए शास्त्र ही यथार्थ शास्त्र हैं। इनमे पूज्य बुद्धि रखकर इनकी यथासभव भक्ति करनी चाहिये। देवकी भक्ति उनकी साक्षात् या उसकी प्रतिमाकी पूजा स्तुति करनेसे व उनका ध्यान करनेसे होती हैं–गुरुकी भक्ति गुरु द्वारा उपदेश लाभ करनेसे व उनकी सेवा आहार दानादि द्वारा करनेसे होती है–शास्त्रकी भक्ति शास्त्रोको अच्छी तरह पढ या सुनकर भाव समझनेसे तथा उनकी विनय सहित रक्षासे होती है। क्योकि जैन धर्म आत्माका स्वभाव रत्नत्रयमई है इसलिये इस धर्मके आदर्श देव, इसके उपदेष्टा गुरु व इसके वतानेवाले शास्त्र अत्यत आवश्यक हैं। आदर्शसे ध्यानके फलका लक्ष्य मिलता है। गुरुसे ध्यान का उपदेश मिलता है, तथा शास्त्रसे ध्यानकी रीतिया व कुध्यान सुध्यानका भेद झलकता है। धर्मके इच्छुक साधारण गृहस्थके लिये धर्मलाभका यही उपाय है। लौकिकमे भी किसी कलाको सीखनेके लिये तीन वातें चाहिये–कलाका दर्शन, कलाका उपदेश तथा कला वतानेवाला शास्त्र। यद्यपि सिद्ध परमात्मा सवसे महान हैं तथापि शास्त्रका उपदेश जो अशरीर सिद्धात्मासे नही होसक्ता सशरीर अरहत द्वारा हमको मिलता है इसलिये उपकार विचारकर इस णमोकार मत्रमे पहले अरहतोको नमस्कार करके पीछे सिद्धोको नमस्कार किया है। उत्कृष्ट अतरात्माओमे भी यद्यपि साधु वडे हैं क्योकि श्रेणी आरूढ यतीको साधु कह सक्ते हैं पर आचार्य तथा उपाध्याय नहीं कह सक्ते तथापि अपने उपकार पहुचनेकी अपेक्षा आचार्यको पहले जो दिक्षा शिक्षा दोनो देते व सघकी रक्षा करते फिर उपाध्यायोको जो शिक्षा देतें फिर सर्व अन्य साधुओको नमस्कार किया है क्योकि साधुओमे सघ प्रवन्ध व धर्मोपदेश देनेकी मुख्यता नहीं

है। यहा वहु वचन इसलिये दिया है कि ये पाच परमपद हैं। इनमे तिष्ठनेवाले अनेक हैं उन सर्व ने ही अरहत, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय तथा साधुओंको नमस्कार किया है। मोक्षमार्गमे चलनेवालो के लिये येही पाच परमेष्ठी मानने योग्य है। इनके सिवाय जो परिग्रहधारी है वे देव व गुरु मानने योग्य नही हैं। धर्मबुद्धिमे वात्सल्य व प्रेमभाव प्रदर्शित करने योग्य वे सब ही आत्मा है जिनको इन पाच परमेष्ठीकी श्रद्धा है तथा श्रद्धावान होकर भी गृहस्थ श्रावकका चारित्र पालते है। इनमे भी जो थोडे चारित्रवान हैं वे वडे चारित्रवानो का सत्कार करते व जो केवल श्रद्धावान हैं वे अन्य श्रद्धावानोका व चारित्रवानोका सत्कार करते हैं। प्रयोजन यह है कि नमस्कार, भक्ति या विनय उस रत्नत्रय मई आत्मधर्मकी है जिनमे यह धर्म थोडा या वहुत वास करता है वे सर्व यथायोग्य विनय व सत्कार करने के योग्य हैं—हम किसी सम्राट की व धनाढ्य की इसलिये विनय धर्मबुद्धि से नही कर सकते कि इसने वहुत पुण्य कमाया है। हम हीन पुण्यी हैं इसलिये हमको पुण्यवानो की पूजा करनी है, यह वात मोक्षमार्ग के अनुकूल नही है। मोक्षमार्ग मे तो वे ही पूज्य माननीय या सत्कार के योग्य हैं जिनमे यह रत्नत्रयमई धर्म थोडा या वहुत पाया जावे। यदि किसी पशु या चडालमे श्रद्धा है तो यह मानने व सत्कार करने के योग्य है और यदि किसी चक्रवर्ती राजामे श्रद्धा नही है तो वह धर्म की अपेक्षा सत्कार के योग्य नही है। पूज्य तो वास्तव मे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र हैं। ये गुण जिन २ जीवो मे हो वे जीव भी यथायोग्य सत्कार के योग्य हैं।

गृही या उपासक, साधु या निर्ग्रंथ तथा देव ये तीन दर्जे मोक्षमार्ग मे चलने वालो के हैं उनमे देव के भक्त साधु या गृही तथा देव और साधु दोनो के भक्त गृही या उपासक होते हैं। चार प्रकारके देव

सर्व ही नारकी, तथा सैनी तिर्यंच और साधुपद रहित गृहस्थ मनुष्य उपासक है ।

उपासक उपासको की देव व साधुतुल्य पूजा भक्ति न करके यथायोग्य सत्कार करते हैं । नमस्कार के योग्य तो साधु और देव ही हैं । इसीलिए श्री कुदकुदाचार्य ने इस गाथामे पाच पदवी धारको को नमन किया है । इस चौथे कालमे २४ तीर्थंकर हो गए है जो वडे प्रसिद्ध धर्मप्रचारक हुए हैं उनको अरहत मानके नमस्कार किया है ।

ते ते सव्वे समगं, समगं पत्तेगमेव पत्तेगं ।
वंदामि य वट्टंते, अरहंते माणुसे खेत्ते ॥३॥

तास्तान् सर्वान् समक समक प्रत्येकमेव प्रत्येकम् ।
वन्दे च वर्तमानानर्हतो मानुपे क्षेत्रे ॥ ३ ॥

अर्थ —श्री कुदकुदाचार्यजी महाराज अपनी अतरग श्रद्धाकी महिमाका प्रकाश करते हुए कहते है कि पहले तो जो पहली गाथाओ मे अरहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु, इन पाच परमेष्ठियो का कथन आया है उन सवको एक साथ भी नमस्कार करता हू तथा प्रत्येक को अलग २ भी नमन करता हू । जव अभेद नय से देखा जाय तो सर्व परमेष्टी रत्नत्रयकी अपेक्षा एक रूप है तथा भेद नयकी अपेक्षा सर्व ही व्यक्ति रूप अलग २ है—अनत सिद्ध यद्यपि स्वभावापेक्षा एक हैं तथापि अपने २ ज्ञानदर्शन सुखवीर्य आदिकी भिन्नताकी तथा अपने २ आनद के अनुभवकी अपेक्षा सव सिद्ध भिन्न २ हैं । इसी तरह सर्व अरहत, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु अपनी २ भिन्न आत्माकी सत्ताकी अपेक्षा भिन्न २ हैं । समुदाय रूप युगपत् नमस्कार करने मे पदवी अपेक्षा नमस्कार है ।

तथा अलग २ नमस्कार करने मे व्यक्ति की अपेक्षा नमस्कार है। फिर आचार्यने पाच विद्रोहो के भीतर विद्यमान सर्व ही अरहतो को भी एक साथ व अलग २ नमन करके अपनी गाढ भक्ति का परिचय दिया है। वर्तमान मे जवूद्वीपमे चार, धातुकी खडमे आठ तथा पुष्करार्द्ध मे आठ ऐसे २० तीर्थंकर अरहत पदमे साक्षात् विराजमान हैं। इनके सिवाय जिनको तीर्थंकर पद नही है किन्तु सामान्य केवलज्ञानी हैं ऐसे अरहत भी अनेक विद्यमान हैं उनको भी आचार्य ने एक साथ व भिन्न २ नमस्कार किया है। नमस्कार के दो भेद है। वचनसे स्तुति व शरीरसे नमन द्रव्य नमस्कार है तथा अतरग श्रद्धा सहित आत्माके गुणोमे लीन होना सो भाव नमस्कार है। इस भाव नमस्कारको टीकाकारने सिद्धभक्ति तथा योगभक्ति के नाम से सम्पादन किया है। जब तीर्थंकर दीक्षा लेते हैं तब सिद्धभक्ति करके लेते है इसलिये टीकाकारने इस भक्तिको दीक्षाक्षणका मगलाचरण कहा है। अथवा मोक्षलक्ष्मीका स्वयवर मडप रचा गया है उसमे सिद्ध भक्ति करना मानो मोक्ष लक्ष्मीके कठसे वरमाला डालनी है। सिद्ध अनन्त दर्शन ज्ञान सुख वीर्य्यादि गुणोके धारी है तैसा है निश्चयसे मैं हू ऐसी भावना करनी सो सिद्ध भक्ति है। निर्मल रत्नत्रयकी एकतारूप समाधि भावमे परिणमन करते हुए परम योगियोके वैराग्य चारित्रादि गुणोकी सराहना करके उन, गुणोके प्रेममे अपने मनको जोडना सो योग भक्ति है। नमस्कार करते हुए भावोमे विशुद्धताकी आवश्यक्ता है सो जब नमस्कार करने योग्य पूज्य पदार्थके गुणोमे परिणाम लवलीन होते हैं तब ही भाव विशुद्ध होते हैं। इन विशुद्धभावो के कारण पापकर्मोका रस सूख जाता है व घट जाता है तथा पुण्य कर्मोका रस बढ जाता है जिससे प्रारभिक कार्यमे विघ्न बाधाए होनी बद हो जाती हैं।

किच्चा अरहंताणं, सिद्धाणं तह णमो गणहराणं ।
अज्झावयवग्गाणं, साहूणं चेव सव्वेसि ॥ ४ ॥

कृत्वार्हद्भ्य सिद्धेभ्यस्तथा नमो गणधरेभ्य ।
अध्यापकवर्गेभ्य साधुभ्यश्चैव सर्वेभ्य ॥ ४ ॥

अर्थ —इस गाथामे फिर भी आचार्य ने पाच परमेष्ठीकी तरफ अपनी भक्ति दिखाकर अपने भावो को निर्मल किया है। वह उत्कट भक्ति का नमूना है—

तेसि विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज ।
उवसंपयामि सम्मं, जत्तो णिव्वाणसंपत्ति ॥५॥

तेषा विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधानश्रम सामासाद्य ।
उपसम्पद्ये साम्य यतो निर्वाणसप्राप्ति ॥ ५ ॥

अर्थ —इस गाथामे आचार्य ने स्वानुभवकी ओर लक्ष्य कराया है। यह भाव झलकाया है कि पाच परमेष्ठी को नमस्कार। करने का प्रयोजन यह है कि जिस निर्मल दर्शन ज्ञानमई आत्म स्वभावरूपी निश्चय आश्रय स्थानमे पचपरमेष्ठी मौजूद है उसी निजात्म स्वभावमई अथवा सम्यक्तपूर्वक भेदज्ञानमई भाव आश्रमको मैं प्राप्त होता हू। पहले व्यवहारमे जो मठ चैत्यालय आदिको आश्रय माना था उस विकल्पको त्याग करता हू। ऐसे निज आश्रम मे जाकरमैं पुण्य वधके कारण शुभोपयोग रूप व्यवहार चारित्रके विकल्पको त्यागकर अपने शुद्ध आत्मस्वभावके अनुभव रूप वीतराग चारित्रको अथवा परम शात भावको धारण करता हू क्योकि इस वीतराग विज्ञानमई अभेद रत्नत्रय स्वरूप शात भावके

ही द्वारा पूर्ववद्ध कर्मोके वधन टूटते है तथा नवीन कर्मोका सवर होता है जिसका अतिम फल मोक्षका प्रगट होना है। इस कथन से श्रीकुदकुदस्वामी ने यह भी दिखलाया है कि सम्यक्तज्ञान पूर्वक वीतराग चरित्रमई परम शातभावके द्वारा पहले भी जीवोने निर्वाण लाभ किया व अब भी निर्वाण जारहे हैं तथा भविष्य मे भी इस ही से मुक्ति पाएगे इसलिये जैसे मैंने ऐसे वीतराग चारित्र का आश्रय लिया है वैसे सर्व ही मुमुक्ष जीव इस शाम्यभावका शरण ग्रहण करो क्योंकि यही मोक्षका असली साधन है। इस तरह प्रथम स्थल मे नमस्कार की मुख्यता करके पाँच गाथाए पूर्ण हुई।

संपज्जदि णिव्वाणं, देवासुरमणुयरायविहवेहि।
जीवस्स चरित्तादो, दंसणणाणप्पहाणादो ॥६॥

सपद्यते निर्वाण देवासुरमनुजराजविभवै ।
जीवस्य चरित्रद्दर्शनज्ञान प्रधानत् ॥ ६ ॥

अर्थ —इस गाथा मे आचार्य ने इस वीतराग चारित्ररूप शात भावकी महिमा वताई है जिसका आश्रय उन्होने किया है। वह वीतराग चारित्र जिसके साथ शुद्धात्मा और उसका स्वाभाविक आनन्द उपादेय है ऐसा सम्यक्त तथा हमारा आत्मा द्रव्य दृष्टि से सर्व ही ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, रागादि भावकर्म तथा शरीरादि नो कर्मो से भिन्न है, ऐसा सम्यग्ज्ञान मुख्यतासे ही साक्षात् कर्मो के वधको दूर करने वाला तथा आत्मा को पवित्र वनाकर निर्वाण प्राप्त कराने वाला है। अभेद या निश्चय रत्नत्रय एक आत्मा का ऐसा आत्मीक भाव है जिसमे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र तीनोकी एकता हो रही है। यही भाव शुद्ध है और यही भाव ध्यान है इसी से ही घातिया कर्म जलजाते और अरहत पद

होता है। इस निश्चय चारित्रकी प्राप्ति के लिये जो देशव्रत या महाव्रत रूप व्यवहार चारित्र पाला जाता है उसमे कुछ सरागता रहती है–वह वीतराग आत्मा मे स्थिति रूप चारित्र नही है क्योंकि जीवो के हितार्थ धर्मोपदेश देना, शास्त्र लिखना, भूमि शोधते गमन करना, प्रतिक्रमण पाठ पढना आदि जितने कार्य्य इच्छापूर्वक किये जाते है उनमे मद कपाय रूप सज्वलन रागका उदय है। इसी कारण इस सराग चारित्रसे जितना राग अश है उसके फल स्वरूप पुण्य कर्मका वध हो जाता है और पुण्य कर्म के उदय से देव गति या मनुष्य गति प्राप्त होती है। जैसा विशेप पुण्य होता है उतना विशेप पद अहमिंद इन्द्र, चक्रवर्ती आदिका प्राप्त होता है क्योकि यह सराग चारित्र भी, सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है इसलिये देव या मनुष्य की पदवी पाकर भी वह भव्य जीव उस पदमे लुब्ध नही होता। उदयमे आए हुए पुण्य फलको समता-भावसे भोग लेता है तथा निरतर भावना रखता है कि कब मैं वीतराग चारित्रको प्राप्त करके निर्वाण सुखका लाभ करूं। इसलिये ऐसे सराग चारित्र से भी परम्परा निर्वाण का भाजन हो जाता है। तौ भी इन दोनो मे साक्षात् मुक्तिका कारण वीतराग चारित्र ही उपादेय है। यह चारित्र यहा भी आत्मानुभाव कराने वाला है, तथा भविष्य मे भी सदा आनन्दकारक निर्वाणका देने वाला है।

जैसा इस गाथा मे भाव यह है कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यग्चारित्र की एकता निर्वाणका मार्ग है ऐसा ही कथन श्री उमास्वामी आचार्य्यने अपने मोक्षशास्त्रके प्रथम सूत्र मे कहा है। यथा "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग.।"

तात्पर्य्य यह है कि हमको मोक्षका साधक निश्चय रत्नत्रय मई वीतराग चारित्रको समझना चाहिये और व्यवहार रत्नत्रय

गई सराग चारित्रको उसका निमित्त कारण या परम्परा कारण समझना चाहिये।

चारित्तं खलु धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥

चारित्रं खलु धर्मो धर्मो यस्तत्साम्यमिति निर्दिष्टम्।
मोहक्षोभविहीन परिणाम आत्मनो हि साम्यम् ॥७॥

अर्थ:—यहां आचार्यने यह दिखलाया है कि चारित्र, धर्म, साम्यभाव यह सब एक भावको ही प्रकट करते हैं। निश्चयसे दर्शनमोह और चारित्र मोह रहित तथा सम्यग्दर्शन और वीतरागता सहित जो आत्माका निज भाव है वही साम्यभाव है अर्थात् आत्मा जब सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्र रूप परिणाम करता है तब जो भाव स्वात्मा सम्बन्धी होता है उसे ही समताभाव, या शांत भाव कहते हैं ऐसा जो शांत भाव है वही, संसार से उद्धार करने वाला धर्म है तथा यही वीतराग चारित्र है जिससे निर्वाणकी प्राप्ति होती है। इस गाथामें भी आचार्यने स्वात्मानुभव अथवा स्वरूपाचरण चारित्रकी ही ओर लक्ष्य दिलाया है और यही प्रेरणा की गई है कि जैसे हमने इस आनन्द धामका आश्रय किया है वैसे सब जन इस ही स्वात्मानुभवका आश्रय करो वही साक्षात् सुखका मार्ग है।

परिणमदि जेण दव्वं, तक्कालं तम्मयत्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो, आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥ ८ ॥

परिणमति येन द्रव्य तत्काल तन्मयमिति प्रज्ञप्तम्।
तस्माद्धर्मपरिणत आत्मा धर्मो मन्तव्य ॥ ८ ॥

अर्थ —इस गाथामे आचार्यने यह वात वताई है कि धम कोई भिन्न वस्तु नही है-आत्माका ही निज स्वभाव मे परिणमन रूप है अर्थात् जव आत्मा परभाव मे न परिणमन करके अपने स्वभाव भाव मे परिणमन करता है तव वह आत्मा ही धर्म रूप हो जाता है। इसमे यह वात भी वताई है स्वभाव या गुण हरएक पदार्थ मे कही अलग से आते नही न कोई किसी को कोई गुण या स्वभाव दे सक्ता है। किन्तु हरएक गुण या स्वभाव उस वस्तु मे जिसमे वह होता है उसके सर्व ही अशो मे व्यापक होता है। कोई द्रव्य के साथ न कोई गुण मिलता है न कोई गुण द्रव्य को छोडकर जाता है। जैन दर्शन का यह अटल सिद्धात है कि द्रव्य ओर गुण प्रदेश अपेक्षा एक है—जहा द्रव्य है वही गुण है। तथा यह भी जैन सिद्धात है कि द्रव्य सदा द्रवन या परिणमन किया करता है। अर्थात् गुणो मे सदा ही विकृति भाव या परिणति हुआ करती है इसलिये द्रव्य को गुण पर्यायवान् कहते हैं। द्रव्य के अनते गुण प्रति समय अपनी अनत पर्यायो को प्रगट करते रहते हैं और क्योकि हरएक गुण द्रव्य मे सर्वांग व्यापक है इसलिये अतत गुणो की अनत पर्यायें द्रव्य मे सर्वांग व्यापक रहती है। इनमे से विचार करने वाला व कहने वाला जिस पर्दाय पर दृष्टि रखता है वह उसके लिये उस समय विविक्षित या मुख्य हो जाती है, शेष पर्यायें अविविक्षित या गौण रहती है। क्योकि रागद्वेप मोह ससार है, इसलिये सम्यक्त सहित वीतरागता मोक्ष है या मोक्षका मार्ग है। आत्मा मे ज्ञानोपयोग मुख्य है इसी के द्वारा आत्मा मे प्रकाश रहता है व इस ही के द्वारा आप और परको जानता है। जव यह आत्मा अपने ही आत्मा के स्वरूप को जानता हुआ रहता है अर्थात् वुद्धि पूर्वक निज आत्मा के सिवाय अन्य सर्व पदार्थों से उदासीन होकर अपने आत्मा के ही जानने मे तन्मय हो जाता है

अर्थात् आप ही ज्ञाता तथा आप ही ज्ञेय होजाता है, तथा इस ही ज्ञानकी परिणतिको वार वार किया करता है। तव आत्मा अपने शुद्ध आत्मस्वभावमे लीन है ऐसा कहा जाता है उस समय अनत गुणोकी और पर्यायोंको छोडकर विशेष लक्ष्यमे लेने योग्य पर्यायोका यदि विचार किया जाता है तो कहनेमे आता है कि उस समय सम्यक्त ज्ञान, चारित्र तीनों ही गुणोका परिणमन हो रहा है। सम्यक्त परिणति श्रद्धा व रुचि रूप है ही, ज्ञान आपको जानता है यह ज्ञानकी परिणति है तथा पर पदार्थसे राग द्वेष न होकर उनसे उदासीनता है तथा निजमे थिरता है यही चारित्रकी परिणति है। भेद नयमे सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप तीन प्रकार परिणतिमे हो रही हैं, निश्चय रूप अभेद नयसे तीन भावमई आत्माकी ही परिणति है। इसी कारणसे रत्नत्रयमे परिणमन करता हुआ आत्मा ही साक्षात् धर्मरूप है। इस ही धर्मको वीतराग चारित्र भी कहते है। अतएव इस रत्नत्रयमई वीतराग चारित्रमे परिणमन करता हुआ आत्मा ही वीतराग चारित्र है। जैसे अग्निकी उष्णता रूप परिणमन करता हुआ लोहेका गोला अग्निमई होजाता है वैसे वीतरागभावमे परिणमन करता हुआ आत्मा सराग होजाता है। जिस समय पाच परमेष्ठीकी भक्ति रूप भावसे वर्तन होरहा है उस समय विचार किया जाय कि आत्माके तीन मुख्य गुणोका किस रूप परिणमन है तो ऐसा समझमे आता है कि सम्यग्दृष्टी जीवके सम्यक्त गुणका तो रुचि रूप परिणमन है तथा ज्ञान गुण का पाच परमेष्टी ग्रहण करने व भक्ति करने योग्य है इस ज्ञान रूप परिणमन है तथा चारित्रगुणका मदकषायके उदयसे शुभ रागरूप परिणमन है इसीलिये इस समय आत्माको सराग चारित्र कहा जाता है तथा आत्माको सराग कहते है और यह आत्मा इस समय पुण्यकर्मको वाध स्वर्गादि गतिका पात्र होता

है । यहा आचार्यका यही अभिप्राय है कि वीतराग चारित्रमई आत्मा ही उपादेय है क्योंकि इस स्वात्मानुभव रूप वीतराग चारित्रसे वर्तमानमे भी अतीन्द्रिय सुखका लाभ होता है तथा आगामी मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है । इस तरह वीतराग चारित्रकी मुख्यतासे सक्षेपमे कथन करते हुए दूसरे स्थलमे तीन गाथाए पूर्ण हुई ।.८॥

जीवो परिणमदि जदा, सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो ।
सुद्धेण तदा सुद्धो, हवदि हि परिणामसब्भावो ॥ ९ ॥

जीव परिणमति यदा शुभेनाशुभेन वा शुभोऽशुभ ।
शुद्धेन तदा शुद्धो भवति हि परिणामस्वभाव ॥९॥

अर्थ ।—यहाँ आचार्यने ज्ञानोपयोगके तीन भेद बताए हैं । अशुभ उपयोग, शुभ उपयोग और शुद्ध उपयोग । वास्तवमे ज्ञानका परिणमन ही ज्ञानोपयोग है सो उसकी अपेक्षासे ये तीन भेद नही हैं । ज्ञानमे ज्ञानावरणीय कर्मके अधिक २ क्षयोपशममे ज्ञानका बढता जाना तथा घटते बढते सर्वज्ञानावरणीय कर्मके क्षयसे पूर्णज्ञान होजाना यह तो परिणमन है परन्तु निश्चयमे अशुभ, शुभ, शुद्ध परिणमन नही है । कषाय भावो की कलुक्ता जो कषयोके उदयसे ज्ञानके साथ साथ चारित्र गुणको विकृत करती हुई होती है उस कलुषताकी अपेक्षा तीन भेद उपयोगके लिये गए हैं । शुद्ध उपयोग कलुषता रहित उपयोगका नाम है—आगममे जहाँसे इस जीवकी बुद्धिमे कषायका उदय होते हुए भी कलुपताका झलकाव नही होता किन्तु वीतरागताका भान होता है वहींसे शुद्धोपयोग माना है और जहा शुद्धोपयोग रूप होनेका राग है व शुद्धोपयोग होनेके कारणोमे अनुराग है वहा इस जीवके शुभोपयोग है इन दो उपयोगोको छोड़कर जहाँ शुद्धोपयोगकी पहचान ही नही है न शुद्ध होनेकी रुचि है किन्तु ससारिक सुखकी वासना है—

उस वासना सहित वर्तन करता हुआ चाहे हिंसा करे व जीवदया पाले, चाहे झूठ बोले या सत्य बोले उस जीवके अशुभोपयोग कहा जाता है, इसी अपेक्षा चौथे गुणस्थानमे ही अशुभोपयोगका प्रारम्भ है और बुद्धिपूर्वक धर्मानुराग छटे गुणस्थान तक रहता है उसके आगे नही इससे सातवे गुणस्थानमे शुद्धोपयोग है। यदि भावो की शुद्धता की अपेक्षा विचार करे तो जहा कषायोका अभाव होकर बिलकुल भी कलुषता नही है, किन्तु ज्ञानोपयोग पवनवेग बिना निश्चल समुद्रवत् निश्चल स्वस्वरूपाशक्त हो जाता है वही शुद्धोपयोग है। अरहन्त सिद्ध अवस्थामे आत्मा यथास्वरूप है उस समय उपयोगको शुद्ध कहो तो भी ठीक है या शुद्धताका फलरूप हो तो भी ठीक है क्योकि शुद्ध अनुभवका फल शुद्ध होना है। आत्मा परिणमन स्वभाव है तब ही उसके भीतर ज्ञान और चारित्रका भी अन्य गुणोकी तरह परिणमन हुआ करता है। कर्म बंध सहित अशुद्ध अवस्थामे ज्ञानका हीन अविकल्प और चारित्र गुणका अशुभ, शुभ तथा शुद्धरूप परिणमन होता है। इन दो परिणमनोको व्यवहारमे एक नामसे अशुभ उपयोग, शुभ उपयोग तथा शुद्ध उपयोग कहते हैं। शुद्ध उपयोग पूर्वबद्ध कर्मोकी निर्जरा करता है, शुभोपयोग पापकी निर्जरा तथा विशेषता से पुण्य कर्मोका व कुछ पाप कर्मोका बंध करता है तथा अशुभोपयोग पाप कर्मो हीको बाधना है।

शुद्धोपयोगीके ११ वे, १२ वे तेरहवे गुणस्थानमे जो आश्रव तथा बध होता है वह योगोके परिणमनका अपराध है शुद्ध चारित्र व ज्ञानका नही। यह आश्रव ईर्यापथ है व बन्ध एक समय मात्र तक ठहरनेवाला है इसलिये उसको बन्ध नही सा कहना चाहिये क्योकि हरएक कर्म बंधकी जघन्य स्थिति अतर्मुहूर्त है सो इन तीन गुणस्थानोमे जघन्य स्थिति भी नही पडती। सातवेसे ले १०

वे गुणस्थानमे अबुद्धिरूप कषायका उदय है इससे तारतम्यसे जितना शुभपना है उतना यहा कर्मोका बंध है। चौथेसे ले छठे तक शुभोपयोगकी मुख्यता है। यद्यपि स्वात्मानुभव करते हुए चौथेसे ले ६वें तक शुद्ध भाव भी बुद्धिमे झलकता है तथापि वह अति अल्प है तथा उस स्वात्मानुभवके समयमे भी कषायोकी कलुषता है इससे उसको शुद्धोपयोग नही कहा है। सराग भावसे ये तीन गुणस्थानवाले विशेष पुण्य कर्मका बंध करते हैं। चार अघातिया कर्ममे पुण्य पाप भेद है किन्तु घातिया कर्म पापरूप ही हैं—इन घातिया कर्मोका उदय कषाय कालिमाके साथ १०वें गुणस्थान तक होता है इससे इनका बन्ध भी १०वे गुणस्थान तक रहता है। नीचेके तीन मिथ्यात्वादि गुणस्थानोमे सम्यक्त न होनेकी अपेक्षा अशुभोपयोग कहा है। यद्यपि इन गुणस्थानोके जीवोंके भी मदकषाय रूप दान पूजा जप तपके भाव होते हैं और इन भावोंसे वे कुछ पुण्यकर्म भी बंध करते हैं तथापि मिथ्यात्वके बलसे चार घातियारूप पाप कर्मोका विशेष बंध होता है। सम्यक्त भूमिकाके बिना शुभपना उपयोगमे आता नही। जहा निज शुद्धात्मा व उसका अतीन्द्रिय सुख उपादेय है ऐसी रुचि बैठ जाती है वहा सम्यक्त भूमिका बन जाती है तब वहा उपयोगको शुभ कहते हैं। यद्यपि सम्यक्ती गृहस्थोके भी आरभी हिंसा आदि अशुभ उपयोग होता है व जिससे वे पापकर्म असाता वेदनीय आदि भी बाधते हैं तथापि ससार कारण न होनेसे व सम्यक्तकी भूमिका रहने से उपयोगको शुभ कहा हैं। सर्व कथन मुख्यता व गौणताकी अपेक्षासे है। प्रयोजन यह है कि जिस तरह बने शुद्धोपयोगकी रुचि रखकर उसकी प्राप्तिका उद्यम करना चाहिये—इसीसे आत्महित है—यही पुरुषार्थ है जिससे यहा भी स्वात्मानद होता है और परलोकमे भी परम्परा मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ ६ ॥

णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो ॥ १० ॥

नास्ति विना परिणाममर्थोऽर्थं विनेह प्ररिणाम ।
द्रव्यगुणपर्ययस्थोऽर्थोऽस्तित्वनिवृ त्त ॥ १० ॥

अर्थ —यहांपर आचार्य यह दिखलाते है कि हरएक पदार्थ परिणाम स्वभावको रखनेवाला है तथा वह परिणाम पलटता रहता है तौ भी पदार्थ बना रहता है तथा परिणाम पदार्थमे कोई भिन्न वस्तु नही है। द्रव्य गुण पर्यायोका समुदाय है जैसा कि श्री उमास्वामी आचार्यने भी कहा है "गुणपययवत् द्रव्यम्' इनमेसे गुण सहभावी होते हैं अर्थात् गुणोका और द्रव्यका कभी भी सवध छूटता नही है, न गुण द्रव्यके विना कही पाए जाते है न द्रव्य कभी गुण विना निर्गुण होसक्ता है। गुणोके भीतर सदा ही पर्याय हुआ करती है। गुणोकी अवस्था कभी एकसी रहती नही। यदि गुण विल्कुल अपरिणामीके हो अर्थात् जैसेके तैसे पडे रहे कुछ भी विकार अपनेमे न करे तो उन गुणोमे भिन्न २ कार्य न उत्पन्न हो। जैसे यदि दूधकी चिकनाई दूधमे एकसी दशामे बनी रहे तो उसमे घी आदिकी चिकनाई नही बनसक्ती है। यहा पर यह बराबर ध्यानमे रखना चाहिये कि द्रव्य अपने सर्वागमे अवस्थाको पलटता है इसमे उसके सब ही गुण साथ साथ पलट जाते हैं। दूध द्रव्य पलटकर मक्खन छाछ तथा घी रूप होजाता है। उस द्रव्यमे जितने गुण है उनमेंसे जिसकी मुख्यता करके देखें वह गुण पलटा हुआ प्रगट होता है। घीकी चिकनाईको देखे तो दूधकी चिकनाई से पलटी हुई है। घीके स्वादको देखे तो दूधके स्वादसे पलटा हुआ स्वाद है। घीके वर्णको देखे तो दूधके वर्णसे पलटा हुआ वर्ण है। आकारपना अर्थात् प्रदेशत्व भी द्रव्यका गुण है। आकार पलटे

विना एक द्रव्यकी दो अवस्थाए जिनका आकार भिन्न २ हो, नहीं होसक्ती हैं। एक सुवर्णके कुडलको तोडकर जब वाली बनावेंगे तो कुडलसे वालीका आकार भिन्न ही होगा। इस पलटनको आकारका पलटना कहते हैं। द्रव्यमे या उसके गुणोमे पर्याय दो प्रकारकी होती है-एक स्वभाव पर्याय दूसरी विभाव पर्याय। स्वभाव पर्याय सदृश सदृश एकसी होती है स्थल दृष्टिमे भेद नही दिखता। विभाव पर्याय विसदृश होती है इससे प्राय. स्थूल दृष्टिसे विदित होजाती है। जैन सिद्धातने इस जगत् को छ द्रव्योंका समुदाय माना है। इनमेंसे धर्म,अधर्म, आकाश, काल तथा सिद्धशुद्ध सब जीव सदास्वभाव परिणमन करते हैं। इन द्रव्योंके गुणोंमे विसदृश विभाव परिणमन नहीं होता है। सदा ही एक समान ही पर्यायें होती हैं। किन्तु सर्व ससारी जीवोंमे पुग्दलके सम्बन्धसे विभाव पर्यायें हुआ करती हैं तथा पुग्दलमे जब कोई अविभागी परमाणु जघन्य अश स्निग्धरुणता व रूक्षताको रखता है अर्थात् अबध अवस्थामे होता है तब वह स्वभाव परिणमन करता है। परन्तु अन्यपरमाणुओंसे बधनेपर स्कध अवस्थामे विभाव परिणमन होता है। यद्यपि स्वभाव परिणमन हमारे प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं है तथापि हम विभाव परिणमन ससारी जीव तथा पुग्दलोंमे देखकर इस बातका अनुमान करसक्ते हैं कि द्रव्योंमे स्वभाव परिणमन भी होता है, क्योंकि जब परिणमन स्वभाव वस्तु होगी तब ही उसमें विभाव परिणमन भी होसक्ता है। यदि परिणमन स्वभाव द्रव्यमे न हो तो अन्य किसी द्रव्यमें ऐसी शक्ति नही है जो वलात्कार किसीमे परिणमन करा सके। काठके नीचे हरा लाल डाक लगानेसे हरा लाल नगीना नहीं चमक सक्ता है क्योंकि काठमे ऐसी परिणमन शक्ति नही है किन्तु स्फटिकमणिमे ऐसी परिणमन शक्ति है जो जिस रंगके डांकका संयोग मिलेगा उस रगरूप नगीनेके भावको झलकायेगा। हरएक

वस्तुकी परिणमन शक्ति भिन्न २ है तथा विजातीय वस्तुओमे विजातीय परिणमन होते हैं। जैसे चैतन्य स्वरूप आत्माका परिणमन चेतनमई तथा जड पुद्गलका परिणमन जड रूप अचेतन है। एक पुस्तक रक्खे रक्खे पुरानी पड जाती है क्योंकि उसमे परिणमन शक्ति है। इसीसे जब परिणमन होना द्रव्यमे सिद्ध है तब शुद्ध द्रव्य भी इस परिणमन शक्तिको कभी न त्यागकर परिणमन करते रहते हैं। इस तरह सर्व ही द्रव्य तथा आत्मा परिणमन स्वभाव है ऐसा सिद्ध हुआ। जब यह सिद्ध होगया कि आत्मा या सर्व द्रव्य परिणमन स्वभाव है तब परिणाम या पर्याय द्रव्यमे सदा ही पाए जाते है। जैसे गुण सदा पाए जाते हैं वैसे पर्यायें सदा पाई जाती है इसी लिये द्रव्य गुण पर्यायवान है यह सिद्ध है–गुण और पर्यायमे अन्तर यही है कि गुण सदा वे ही द्रव्यमे मिलते हैं जब कि पर्यायें सदा भिन्न २ मिलती है। जिस समय एक पर्याय पैदा होती है उसी समय पिछली पर्यायका नाश होता है या यो कहिये कि पिछली पर्यायका नाश उसीको नवीन पर्यायका उत्पाद कहते है। इसलिये द्रव्यमे पर्यायकी अपेक्षा हरसमय उत्पाद और व्यय अर्थात् नाश सदा पाए जाते हैं तथा गुण सहभावी रहते हैं इससे वे ध्रौव्य या अविनाशी कहलाते हैं। इसी अपेक्षा जहा "सत् द्रव्यलक्षण" कहा है वहा सतको उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप कहा है। अर्थात् द्रव्यको तब ही मान सक्ते हैं जब द्रव्यमे ये उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनो दशाए हरसमयमे पाई जावे। यही भाव इस गाथामे है कि पदार्थ कभी परिणामके विना नही मिलेगा और पदार्थके विना परिणाम भी कही अलग नही मिलसक्ता है इन दोनोका अविनाभाव सम्बन्ध है। तथा उसी पदार्थकी सत्ता सिद्ध मानी जायगी जो द्रव्यगुण पर्यायोमे रहनेवाला है। यहा द्रव्य शब्दसे सामान्य गुण समुदायात्मा लेना चाहिये उसीके विशेष गुण और

पर्यायें लेनी चाहिये । इस तरह सामान्य और विशेष रूप पदार्थ ही जगतमे सत् है । तात्पर्य यह है कि जब आत्माका स्वभाव परिणमनशील है तब ही यह आत्मा जिस भावरूप परिणमन करेगा उस रूप हो जायगा अतएव शुभ अशुभ भावोंको त्यागकर शुद्ध भावोमे परिणमना कार्यकारी है । इस तरह शुभ अशुभ शुद्ध परिणामोकी मुख्यतासे व्याख्यान करते हुए तीसरे स्थलमे दो गाथाए पूर्ण हुई ।

धम्मेण परिणदप्पा, अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो ।
पावदि णिव्वाणसुहं, सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ॥११॥

धर्मेण परिणतात्मा आत्मा यदि शुद्धसप्रयोगयुत. ।
प्राप्नोति निर्वाणसुख शुभोपयुक्त च स्वर्गसुखम् ॥ ११ ॥

अर्थ—इस गाथा मे आचार्यने शुद्धोपयोगका फल को बधनसे छूटकर मुक्त होना अर्थात् शुद्ध स्वरूप हो जाना बताया है । आचार्य महाराज अपनी ९वी गाथामे कही हुई बातकी ही पुष्टि कर रहे हैं कि साम्यभाव से ही आत्मा मुक्त होती है इसी साम्यभावको वीतराग चारित्र, चारित्रकी अपेक्षाया कषायोके शमन या क्षयकी अपेक्षा तथा शुद्धोपयोग निर्विकार क्षोभ रहित ज्ञानोपयोगकी अपेक्षा इसी भावको निश्चय रत्नत्रयमई धर्म व अहिंसाधर्म या वस्तु स्वभाव रूप धर्म या दश धर्मका एकत्व कहते हैं—यही राग द्वेष रहित निर्विकल्प समाधि भाव कहलाता है । इसीको धर्मध्यान या शुद्धध्यानकी अग्नि कहते हैं । इसीको स्वात्मानुभूति व स्वस्वरूपरमण व स्वरूपाचरण चारित्र भी कहते है । इसी भावमे यह शक्ति है कि अग्नि जैसे कपासके समूहको जला देती है वैसे यह ध्यानकी अग्नि पूर्वमे बाधे हुए कर्मोकी निर्जरा कर देती है तथा नवीन कर्मोका सवर करती है । जिस भावसे नए कर्म न आवे और

पुराने बधे समय समय असंख्यात गुणे अधिक झडे उसी भावसे अवश्य आत्माकी शुद्धि होसक्ती है। जिस कुंडमे नया पानी आना बंध होजावे और पुराना पानी अधिक जोरसे वह जाय वह कुंड अवश्य कुछ कालमें बिलकुल जल रहित हो जावेगा। आत्माके कर्मोंका बंधन कषाय भावके निमित्तसे होता है। इसी कषायको रागद्वेष कहते हैं। तब रागद्वेषके विरोधी भाव अर्थात् वीतराग भावसे अवश्य कर्म झडेंगे। वास्तवमें जैसा साधन होगा वैसा साध्य सधेगा। जैसी भावना तैसा फल। इसलिये शुद्ध आत्मानुभवसे अवश्य शुद्ध आत्माका लाभ होता है। यह शुद्धात्मानुभव यहा भी अतीन्द्रिय आनन्दका स्वाद प्रदान करता है तथा भविष्यमे भी सदाके लिये आनन्दमयी बना देता है। यह मुक्तिका साक्षात् कारण है। श्री अमृतचंद्र आचार्यने समयसार कलशा मे कहा है—

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्वमात्मन ।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥४६॥
एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्यात्मक
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च त चेतति ।
तस्मिन्नेव निरंतर विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन् ।
सोऽवश्य समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति ॥४७॥

अर्थ —सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमई आत्माका स्वभाव है। जो मोक्षका इच्छुक है उसे इसी एक मोक्षमार्गकी सदा सेवा करनी योग्य है। निश्चयसे यही एक दर्शन ज्ञानचारित्रमई मोक्षका मार्ग है। जो कोई इसी मार्गमे ही ठहरता है, इसीको ही रात दिन ध्याता है, इसीका ही अनुभव करता है, इसीमे ही निरतर विहार करता तथा अपने आत्माके सिवाय अन्य द्रव्योंको जो स्पर्श नहीं करता है वही जीव नित्य प्रकाशमान शुद्धात्माका अवश्य ही स्वाद लेता है। इसलिये शुद्धोपयोग साक्षात् मोक्षका

कारण होने से उपादेय है । परन्तु जिस किसीका उपयोग शुद्ध भावमे नही जानता है वह शुभोपयोगमे उपयुक्त होता है । शुद्धोपयोगमे व शुद्धोपयोगके धारक पाच परमेष्टीमे जो प्रीतिभाव तथा इस प्रीति भावके प्रदर्शनके निमित्तोमे जो प्रेम उसको शुभोपयोग कहते है । इस शुभोपयोगमे ज्ञानी जीव यद्यपि वर्तन करता है तथापि अतरग भावना शुद्धोपयोगके लाभकी होती है। इसी कारणसे ऐसा शुभोपयोगमे वर्तना शीघ्र शुद्धोपयोगकी तरफ उपयोगको मुडनेके लिये निमित्त कारण है, इसीसे इस शुभोपयोगको मोक्षका परपरा कारण कहा गया है । इस शुभोपयोगमे जितना अश रागभाव होता है उससे अघातिया कर्मोकी पाप प्रकृतियोका वधन होकर पुन्य प्रकृतियोका वध होता है इसीसे शुभोपयोगी शुभ नाम, उच्च गोत्र, साता वेदनीय तथा देवायु बाधकर स्वर्गमे अतिशय सातामे मग्न देव हो जाता है वहा क्षुधा तृष्णा रोगादि व धन लाभादिकी आकुलताओसे तो छूट जाता है किन्तुकेवल आकुलतामई इन्द्रिय जनित सुख भोगता है तथापि यहा भी शुद्धोपयोगकी प्राप्तिकी भावना रहती है जिससे वह ज्ञानी आत्मा उन इद्रिय सुखोमे तन्मय नही होता है किन्तु उनको आकुलताके कारण जानके उनके छूटने व अतीन्दय आनन्दके पानेका उत्सुक रहता है। इससे स्वर्गका सम्यग्दृष्टी आत्मा इस मनुष्य भवमे योग्य सामग्रीका सम्बन्ध पाता है जिससे शुद्धोपयोग रूप परिणमन कर सके ।

तात्पर्य्य इस गाथाका यह है कि अशुभोपयोगसे बचकर शुद्धोपयोग मे रमनेकी चेष्टा करनी योग्य है । यदि शुद्धोपयोग न होसके तो शुभोपयोगमे वर्तना चाहिये तथापि इस शुभोपयोगको उपादेय न मानना चाहिये ।

असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो।
दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिधुदो भमइ अच्चंतं ॥ १२ ॥

अशुभोदयेनात्मा कुनरस्तिर्यग्भूत्वा नैरयिक ।
दुःखसहस्रैः सदा अभिधृतो भ्रमत्यत्यन्तम् ॥ १२ ॥

अर्थ।—इस गाथामे आचार्यने अशुभोपयोगका फल दिखलाया है। इस जीवके वैरी कषाय हैं। कषायोके उदयसे ही आत्माका उपयोग कलुषित या मैला रहता है। शुद्धोपयोग कषाय रहित परिणाम है इसीसे वह मोक्षका कारण है। अशुद्धोपयोग कषाय सहित आत्माका भाव है इससे बंधका कारण है। इस अशुद्धोपयोगके शुभोपयोग और अशुभोपयोग ऐसे दो भेद है। जिस जीवके अनतानुबधी चार और मिथ्यात्व आदि तीन दर्शन मोहनीयकी ऐसी सात कर्मकी प्रकृतियोका उपशम हो जाता है। अथवा क्षयोपशम या क्षय हो जाता है उस सम्यग्दृष्टी जीवके कषाय अतरगमे मन्द हो जाती है। अतएव ऐसा ही जीव मद कषायपूर्वक जप, तप, सयम, व्रत, उपवास, दान, परोपकार, स्वाध्याय, पूजा, आदि व्यवहार धर्म मे प्रेम करता हुआ शुभोपयोगका धारी होता है। परन्तु जिस जीवके सम्यग्दर्शनरूपी रत्नकी प्राप्ति नही हुई है वह अनतानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्वमे वासित आत्मा अशुभ उपयोगका धारी होता है क्योकि उसके भीतर देखे सुने, अनुभए इन्द्रिय भोगोकी कामना जाग्रत रहती है। जिस इच्छाकी पूर्तिके लिये मद्य, मास, मधु खाता है, हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रहमें लगा रहता है। अपने स्वार्थके लिये परका बुरा करनेका उद्यम करता है। इसलिये वह अशुभोपयोग का धारी जीव अपने पाप भावोंसे नरक निगोद, तिर्यच गतिका कर्म बांधकर नरकमे जाता है तब छेदन

भेदन मारण तारण आदि महा दुःखोको सागरो पर्यंत भोगता है, यदि निगोद जाता है तव दीर्घकाल वही बिताकर फिर तिर्यच गतिके त्रस स्थावर शरीरोको धार धारकर महान सकट उठाता है। मनुष्य गतिमे दलिद्री, दुखी, रोगी मनुष्य हो वडे कष्टसे आयु पूरी करता है। मिथ्यादृष्टी अज्ञानी जीव कभी जप, तप, व्रत, उपवास, ध्यान, परोपकार आदि भी करता है उस समय उसकी वाहरी क्रिया कभी शुभ तथा आगमके अनुसार ठीक प्रगट होती है, परन्तु अतरगमे मिथ्या अभिप्राय रहनेसे उसके उपयोग-को शुभोपयोग नही कहते है। यद्यपि वह मिथ्यादृष्टी इस मद कषायसे अघातिया कर्मोमे पुण्य प्रकृतियोको शुभोपयोगोकी तरह वाधता है व कोई २ शुभोपयोगीमे भी अधिक मदकषाय होने से शुभोपयोगीसे अधिक पुण्य प्रकृतिको वाध लेता है तो भी ससार भ्रमणका पात्र ही रहता है इससे उस मिथ्यात्वी द्रव्यलिंगी मुनिको भी अशुभोपयोगी कहते हैं। एक ग्रहस्थ सम्यग्दृष्टी व्रतोको पालता हुआ जव शुभोपयोगसे पुण्य वाध केवल १६ सोलह स्वर्ग तक ही जाता है तव मिथ्यादृष्टी द्रव्यलिंगी मुनि वाहर उपयोगमे प्रगट शुभलेश्याके प्रतापसे नौमे ग्रीवक तक चला जाता है। तो भी वह श्रावक मोक्षमार्गी होनेसे शुभोपयोगी है, तथा द्रव्यलिंगी मुनि ससारमार्गी होनेसे अशुभोपयोगी है। यहापर कोई शका करे कि सम्यग्दृष्टी जव ग्रहारम्भमे वर्तता है अथवा क्षत्री या वैश्य कर्मोमे युद्धादि करता है या कृषि वाणिज्य करता है या विषयभोगोमेवर्तता है तव भी क्या उस सम्यग्दृष्टिके उपभोगको शुभोपयोग कहेगे ? जिस अपेक्षासे यहा अशुभोपयोगकी व्याख्या की है, वह अशुभो-पयोग सम्यग्दृष्टीके कदापि नही होता है, सम्यग्दृष्टीका ग्रहारम्भ भी धर्मसाधनमे परम्परा निमित्तभूत है। अभिप्रायमे सम्यग्दृष्टी स्वपर हितको ही वाछता है—शत्रुकी भी आत्माका कल्याण चाहता

है इससे उसके उपयोगको शुभोपयोग कहसक्ते हैं। यद्यपि चारित्र अपेक्षा अशुभोपयोग है क्योंकि सक्लेश भावोंसे ग्रहारंभ करता है तथापि सम्यक्तकी अपेक्षा शुभोपयोग है। जहांतक सम्यग्दृष्टी जीवके प्रवृत्ति मार्ग है वहां तक इसके अशुभोपयोग और शुभोपयोग दोनों होते हैं। चारित्रकी अपेक्षा जब सम्यक्ती तीव्र कषायवान हो ग्रहारंभमे प्रवर्तता है, अथवा इष्ट वियोग अनिष्ट सयोगया पीडाकी चिंतामे होजाता है या परिग्रहमे उलझकर कुछ हर्षकर लिया करता है या परिग्रहके वियोगमे कुछ विषाद कर लिया करता है तब इसके अशुभोपयोग होता है और जब व्यवहार चारित्र श्रावक या मुनिका आचरता है तब इसके शुभोपयोग होता है। शुभोपयोग मे धर्मध्यान जब कि अशुभोपयोगमे धर्मध्यान न होकर केवल आर्त्त और रौद्र ध्यान रहता है। ये दोनो ध्यान अशुभ हैं तथापि पाचवें गुणस्थानवर्ती श्रावक तक रौद्र ध्यान और छठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्तविरत मुनितक आर्त्तध्यान रहता है।

यद्यपि सम्यग्दृष्टीके अशुभोपयोग होता है तथापि यह अशुभपयोग सम्यक्तकी भूमिका सहित है, इस कारण मिथ्यादृष्टिके अशुभोपयोग से विलक्षण है।

यह अशुभोपयोग भी निर्वाणमे बाधक नही है जब कि मिथ्यादृष्टिका शुभोपयोग भी मोक्षमे बाधक है। इसके सिवाय मिथ्यादृष्टिका अशुभोपयोग जैसा पापकर्म बाधता वैसा पापकर्म सम्यग्दृष्टिका अशुभोपयोग नहीं बाधता है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव ४१ प्रकृतियोंका तो बंध ही नहीं करता है इसलिये वह नरक, तिर्यञ्च आयुको नही बाधता, न वह स्त्री नपुंसक होता है न दीन दुःखी दलिद्री मनुष्य न हीन देव होता है। मिथ्यादृष्टीके जप, तप दानादिको उपचारसे शुभ कहा जाता है। वास्तवमे वह

शुभ नही है इससे मिथ्यादृष्टी के शुभोपयोग का निषेध है, केवल अशुभोपयोग ही होना है। जिसके कारण घोर पाप बाध चारोगतियो मे दीर्घ कालतक भ्रमण करता है।

तात्पर्य्य यह है कि अशुभोपयोग त्यागने योग्य है, पाप बधका कारण है इससे इस उपयोग से बचना चाहिये तथा शुद्धोपयोग मोक्षका कारण है इसने ग्रहण करना चाहिये और जब शुद्धोपयोग न हो सके तब अशुभोपयोग से बचने के लिये शुभोपयोग को हस्तावलभनजान ग्रहणकर लेना चाहिये।

इसमे इतना और विशेष जानना कि सम्यक्तकी अपेक्षा जब तक मिथ्यात्व भाव का सद्भाव है तबतक उपयोग को अशुभोपयोग कहा जाता है क्योकि वह मोक्ष का परपरा कारण भी नहीं है। किन्तु जब लेश्याओ की अपेक्षा विचार किया जाय तब कृष्ण नील कापोत तीन अशुभ लेश्याओके साथ उपयोगको अशुभोपयोग तथा पीत पद्म शक्ल तीन शुभ लेश्यओके साथ उपयोगको शुभोपयोग कहते हैं। इस अर्थसे देखनेसे जब छहो लेश्याए सैनी पचेन्द्री मिथ्यादृष्टी जीवके पाई जाती है तब अशुभोपयोग और शुभोपयोग दोनो उपयोग मिथ्यादृष्टियोके पाए जाते है इसीसे जब शुभलेश्या सहित शुभोपयोग होता है तब मिथ्यादृष्टी जीव चाहे द्रव्यलिगी श्रावक हो या मुनि, पुण्य कर्मोको भी बाधते हैं। परतु उस पुण्यको निरतिशय पुण्य या पापानुबधी पुण्य कहते हैं। क्योकि उस पुण्यके उदयसे इन्द्रादि महापदवी धारक नही होते हैं। तथा पुण्यको भोगते हुए बुद्धि पापोमे झुक जासक्ती है जिससे फिर नर्क निगोदमे चले जाते है। इसलिये मिथ्यात्वीका शुभोपयोग व उसका फल दोनो ही सराहनीय नही है।

इसमे यही भाव समझना चाहिये कि जिस तरहसे हो तत्वज्ञान द्वारा सम्मक्तकी प्राप्ति करने योग्य है ॥१२॥

इस तरह तीन तरह के उपयोग के फल को करते हुए चौथे स्थल मे दो गाथाए पूर्ण हुई।

अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं ॥१३॥

अतिशयमात्मसमुत्थं विषयातीतमनौपम्यमनन्तम्।
अव्युच्छिन्नं च सुखं शुद्धोपयोगप्रसिद्धानाम् ॥१३॥

अर्थ :—इस गाथामे आचार्य ने साम्यभाव या शुद्धोपयोग का फल यह बताया है कि शुद्धोपयोग के प्रताप से ससारी आत्मा के गुणो के रोकनेवाले घातिया कर्म छूट जाते है। तब आत्मा के प्रच्छन्न गुण विकसित हो जाते है। उन सब गुणो मे मुख्य सुख नामा गुण है। क्योंकि सभी ससारी जीवो को अतरग मे सुख पाने की इच्छा रहती है। सब ही निराकुल तथा सुखी होना चाहते है इन्द्रियो के विषय भोग के कल्पना मात्र सुख मे यह जीव न कभी निराकुल होता है न सुखी होता है। सच्चा सुख आत्माका स्वभाव है वही सच्चा सुख कर्मोके आवरण हटनेसे प्रगट होजाता है। इसी सुखका स्वभाव यहा कहते है। वह सुख इस प्रकारका है कि बडे २ इन्द्र चक्रवर्ती भी जिस सुख को इन्द्रिय भोगो को करते करते नही पासक्ते है तथा जिस जाति का आल्हाद इस आत्मीक सुख मे है वैसा आनन्द इन्द्रिय भोगो मे नही प्राप्त होसक्ता है। इन्द्रिय सुख आकुलता रूप है, अतीन्द्रिय सुख निराकुल है इसी से अतिशय रूप है। इन्द्रिय सुख पराधीन है क्योकि अपने शरीर व अन्य चेतन अचेतन वस्तुओ के अनुकूल परिणमन के आधीन है, जब कि आत्मीक सुख स्वाधीन है जो कि आत्मा का स्वभाव होने से आत्मा ही के द्वारा प्रगट होता है। इन्द्रिय सुख इन्द्रिय द्वारा योग्य पदा-

र्थोके विषय को ग्रहण करने से अर्थात् जानने मे होता है जब कि आत्मीक सुख मे विषयो के ग्रहण या भोगका कोई विकल्प ही नही होता है। आत्मीक सुख के समान इस लोक मे कोई और सुख नही है जिससे इस सुख का मिलान किया जाय इससे यह आत्मीक सुख उपमा रहित है, इन्द्रिय सुख अत सहित विनाशीक व अल्प होता है जब कि आत्मीक सुख अत रहित अविनाशी और अप्र-माण है, इन्द्रिय सुख असाताका उदय होने से व साताके क्षयसे छूट जाता है निरन्तर नही रहता जब कि आत्मीक सुख निरन्तर बना रहता है। जब पूर्णपने प्रगट हो जाता है तब अनतकाल तक बिना किसी विघ्नबाधा के अनुभव मे आता है ।

अरहत भगवान के ऐसा अनुपम सुख उत्पन्न हो जाता है सो सिद्धो के सदाकाल बना रहता है। यद्यपि इस सुख की पूर्ण प्रग-टता अरहतो के होती है तथापि चतुर्थ गुणस्थान मे इस सुख के अनुभव का प्रारभ होजाता है। जिस समय मिथ्यात्त्व और अनता-नुबन्धीका पूर्ण उपशम होकर उपशम सम्यग्दर्शन जगता है उसी समय स्वात्मानुभव होता है तथा इस आत्मीक आनन्दका स्वाद आता है । इस सुख के स्वाद लेने से ही सम्यक्त्व भाव है ऐसा अनुमान किया जाता है। यहा से लेकर श्रावक या मुनि अवस्था मे जब जब इस महात्मा मे अपने स्वरूप की सन्मुखता होती है तब तब स्वात्मानुभव होकर इस आत्मीक सुख का लाभ होता है । क्षायिक ज्ञान और अनतवीर्य के होने पर इस आत्मीक सुख का निर्मल और निरन्तर प्रकाश केवलज्ञानी अरहतके हो जाता है और फिर वह प्रकाश कभी भी बुझता व मन्द नही होता है ।

तात्पर्य्य यह है कि जिस साम्यभाव से आत्मीक आनन्द की प्राप्ति होती है उस साम्यभाव के लिये पुरुषार्थ करके उद्यम करना

चाहिये। यही अब भी सुख प्रदान करता है और भावीकालमें भी सुखदाई होगा। निर्वाणमें भी इसी उत्तम आत्मीक आनंदका प्रकाश सदा रहता है इसी लिये मोक्ष या निर्वाण ग्रहण करने योग्य है। उसका उपाय शुद्धोपयोग है। सोही भावने योग्य है।

सुविदिदपयत्थसुत्तो, संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो, भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ॥१४॥

सुविदितपदार्थसूत्र संयमतप संयुतो विगतराग।
श्रवण समसुखदुःखो भणित शुद्धोपयोग इति ॥१४॥

अर्थ —इस गाथामें आचार्यने निर्वाणका कारण जो शुद्धोपयोग है उसके धारी परम साधुका स्वरूप बताया है। यद्यपि स्वस्वरूपमें थिरताको प्राप्त करना सम्यक् चारित्र है। और यही शुद्धोपयोग है। तथापि व्यवहार चारित्रके निमित्तकी आवश्यक्ता है। क्योंकि हरएक कार्य्य उपादान और निमित्त कारणोंसे होता है। यदि दोनोंमेंसे एक कारण भी न हो तो कार्य्य होना अशक्य है। आत्माकी उन्नति आत्मा ही के द्वारा होती है। आत्मा स्वयं आत्माका अनुभव करता हुआ परमात्मा होजाता है। जैसे वृक्ष आप ही स्वयं रगड़कर अग्निरूप होजाता है।

जैसा समाधिशतकमें श्री पूज्यपाद स्वामीने कहा है —

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा।
मथित्वात्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरु ॥

भावार्थ यह है कि आत्मा अपनी ही उपासना करके परमात्मा होजाता है जैसे वृक्ष आप ही अपनेको मथनकरके अग्निरूप होजाता है। इस दृष्टान्तमें भी वृक्षके परस्पर रगड़नेमें पवनका

सचार निमित्तकारण है। यदि वृक्षकी शाखाए पवन विना थिर रहे तो उनमे अग्निरूप परिणाम नही पैदा होसक्ता है।

आत्माकी शुद्ध परिणतिके होनेमे भी निमित्तकी आवश्यक्ता हैं उसीकी तरफ लक्ष्य देकरके आचार्य शुद्धोपयोगके लिये कौन २ निमित्तकी आवश्यक्ता है उसको कहते हुए शुद्धोपयोगी मानवका स्वरूप बताते हैं। सबसे पहला विशेषण यह दिया है कि इसको जिनवाणीके रहस्यका अच्छीतरह ज्ञान होना चाहिये जिन-शासनमे कथन निश्चय और व्यवहार नयके द्वारा इस लिये किया गया है कि जिससे अज्ञानी जीवको अपनी वर्तमान अवस्थाके होनेका कारण तथा उस अवस्थाके दूर होनेका उपाय विदित हो और यह भी खबर पडे कि निश्चय नयसे वास्तवमे जीव और अजीवका क्या २ स्वरूप है तथा शुद्ध आत्मा किसको कहते है। जिनशासनमे छ द्रव्य, पचास्तिकाय, सात तत्व, नौ पदार्थोका ज्ञान अच्छी तरह होनेकी जरूरत है जिससे कोई सशय शेप न रहे। जबतक यथार्थ स्वरूपका ज्ञान न होगा तबतक भेद विज्ञान नही होसक्ता है। भेदज्ञान विना स्वात्मानुभव व शुद्धोपयोग नही होसक्ता। इसलिये शास्त्रके रहस्यका ज्ञान प्रबल निमित्तकारण है। दूसरा विशेषण यह बताया है कि उसे शुद्धात्मा आदि पदार्थोका ज्ञाता और श्रद्धावान होकर चारित्रवान भी होना चाहिये इसलिये कहा है कि वह सयमी हो और तपस्वी हो जिससे यह स्पष्टरूपसे प्रगट है कि वह महाव्रती साधु होना चाहिये क्योकि पूर्ण इन्द्रिय सयम तथा प्राण सयम इस ही अवस्थामे होसक्ता है। गृहस्थकी श्रावक अवस्थामे आरभ परिग्रहका थोडा या बहुत सम्बन्ध रहनेसे सयम एकदेश ही पलसक्ता है पूर्ण नही पलता है। सयमीके साथ २ तपस्वी भी हो। उपवास, वेला, तेला, रसत्याग, अटपटी आखरी, कठिन स्थानोमे ध्यान

करना आदि गुण विशिष्ट हो तब ही शुद्धोपयोगके जगनेकी शक्ति होसक्ती है। जिसका मन ऐसा वशमें हो कि कठिन कठिन उपसर्ग पड़ने पर भी चलायमान न हो, शरीरका ममत्व जिसका बिलकुल हट गया होगा उसीके अपने स्वरूपमें दृढ़ता होना सम्भव है। नग्न स्वरूप रहना भी बड़ी भारी निस्पृहताका काम है। इसी लिये साधुको सर्व वस्त्रादि परिग्रह त्याग बालकके समान कषायभाव रहित रहना चाहिये। साधुके चारित्रको पालनेवाला ही शुद्धोपयोगका अधिकारी होसक्ता है। तीसरा विशेषण वीतराग है। इस विशेषणमें अंतरंग भावोंकी शुद्धताका विचार है। जिसका अंतरंग आत्माकी ओर प्रेमालु तथा जगत व शरीर व भोगोंमें उदासीन हो वही शुद्ध आत्म भावको पासक्ता है। निरंतर आत्म रसका पिपासु ही शुद्धोपयोगका अधिकारी होसक्ता है। चौथा विशेषण यह दिया है कि जिसकी इतनी कषायोंकी मंदता हो गई है कि जिसके सांसारीक सुखके होते हुए हर्ष होता नहीं व दुःख व क्लेशके होनेमें दुःखभाव व आर्तभाव नहीं प्रगट होता है। जिनकी पूजा की जावे अथवा जिनकी निन्दा की जाय व खड्गका प्रहार किया जाय तौ भी हर्ष व विषाद नहीं हो। जो तलवारकी चोटको भी फूलोंका हार मानते हो, जिन्होंने शरीर को अपने आत्मासे बिलकुल भिन्न अनुभव किया है वे ही जगतके परिणमनमें समताभाव रखते हैं। इन विशेषणों कर सहित साधु जब ध्यान का अभ्यास करता तब सविकल्प भावमें रमते हुए निर्विकल्प भावमें आजाता है जब तक उसमें जमा रहता है तब तक इस साधुके शुद्धोपयोग कहा जाता है। इसीलिये आगममें शुद्धोपयोग सातवें अप्रमत्त गुणस्थानसे कहा गया है। सातवें गुणस्थानसे नीचे भी चौथे गुणस्थान आदि धारकोंके भी कुछ अंश शुद्धोपयोग होजाता है

परन्तु वहा शुभोपयोग अधिक होता है इसीसे शुद्धोपयोग न कह कर शुभोपयोग कहा है।

यहा आचार्यकी यही सूचना है कि निर्वाणके अनुपम सुखका कारण शुद्धोपयोग है। इसलिये परम सुखी होनेवाले आत्माको अशुभोपयोग व शुभोपयोगमे न रगकर मात्र शुद्धोपयोगकी प्राप्तिका उद्यम करना चाहिये। यदि सयम धारनेकी शक्ति हो तो मुनिपदमे आकर विशेष उद्यम करना योग्य है—मुनिपदके वाहरी आचरणको निमित्तकारण मात्र मानकर अंतरग स्वरूपाचरणका ही लाभ करना योग्य है। वाहरी आचरणके विकल्पमे ही अपने समयको न खोदेना चाहिये। जो मुनिका सयम नही पालसक्ते वे एक देश सयमको पालते हुए भी शुद्धोपयोगकी भावना करते है तथा अनुभव दशामे इस स्वात्मानुभव रूप शुद्धोपयोगका स्वरूप वेदकर सुखी रहते है। भाव यह है कि जिस तरह हो शुद्धोपयोग व उसके धारी महा पुरुषोको ही उपादेय मानना चाहिये।

इस तरह शुद्धोपयोगका फल जो अनत सुख है उसके पाने योग्य शुद्धोपयोगमे परिणमन करनेवाले पुरुषका कथन करते हुए पाचवें स्थलमे दो गाथाए पूर्ण हुई।

उवओगविसुद्धो जो, विगदावरणंतरायमोहरओ
भूदो सयमेवादा, जादि परं णेयभूदाणं ॥१५॥

उपयोगविशुद्धो यो विगतावरण तरायमोहरजा
भूत स्वयमेवात्मा यासि पर ज्ञेयभूतानाम् ॥१५॥

अर्थ—यहा आचार्यने यह वताया है कि शुद्धोपयोगसे अथवा साम्यभावसे ही यह आत्मा स्वय विना किसी दूसरेकी

सहायताके क्षपक श्रेणी चढ जाता है। सातवें अप्रमत्त गुणस्थानमें ही प्रमत्त भाव नही रहता है। बुद्धि पूर्वक कषायका झलकना बंद होजाता है। बुद्धिमें स्वात्म रस स्वाद ही अनुभवमें आता है। इस स्वात्मानुभव रूपी उत्कृष्ट धर्मध्यानके द्वारा कषायोंका बल घटता जाता है। ज्यों ज्यों कषायका उदय निर्बल होता जाता है त्यों २ अनन्त गुणी विशुद्धता बढती जाती है। जहांपर समय २ अनन्त गुणी विशुद्धता होती है वहींसे अधोकरणलब्धिका प्रारम्भ होता है यह दशा सातवेंमें ही अंतर्मुहूर्त्त तक रहती है। तब ऐसे परिणामोंकी विशुद्धता बढती है कि जो विशुद्धता अधोकरणसे भिन्न जातिकी है। यह भी समय २ अनन्त गुणी बढती जाती है। इसकी उन्नतिके कालको अपूर्वकरण नामका आठवां गुणस्थान कहते हैं। फिर और भी विलक्षण विशुद्धता अनंतगुणी बढती जाती है क्योंकि कषायोंका बल यहां बहुत ही तुच्छ होजाता है। यह दशा अन्तर्मुहूर्त्त रहती है। इस वर्तनको अनिवृत्तिकरणलब्धि कहते हैं। इस तरह विशुद्धताकी चढतीसे सर्व मोहनीय कर्म नष्ट होजाता है केवल सूक्ष्म लोभका उदय रह जाता है। आठवें अपूर्वकरण गुणस्थानमें पृथक्त्ववितर्क वीचार नामका प्रथम शुक्लध्यान शुरू होजाता है। यही ध्यान सूक्ष्मलोभ नामके दसवें गुणस्थानमें भी रहता है। यद्यपि इस ध्यानमें शब्द, पदार्थ, तथा योगका पलटना है तथापि यह सब पलटन ध्याताकी बुद्धिके अगोचर होता है। ध्याताका उपयोग तो आत्मस्थ ही रहता है। वह आत्मीक रसमें मगन रहता है। इसी स्वरूपमग्नताके कारण आत्मा दसवें गुणस्थानके अन्तर्मुहूर्त कालमें ही सूक्ष्म लोभको भी नाशकर सर्व मोहकर्मसे छूटकर निर्मोह वीतरागी होजाता है तब इसको क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती कहते हैं। अब यहां मोहके चले जानेसे ऐसी निश्चलता व वीतरागता होगई है कि यह आत्मा

विलकुल ध्यानमे तन्मयी है यहा पलटना वद हो रहा है । इसीसे यहा एकत्व वितर्क अवीचार नामका दूसरा शुक्लध्यान होता है । यहा के परम निर्मल उपयोगके द्वारा यह आत्मा अतर्मुहूर्त्तमे ही ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, तथा अतराय इन तीन घातिया कर्मोंके वलको क्षीण करता हुआ अत समयमे इनका सर्वथा नाश-कर अर्थात् अपने आत्मासे इनको विलकुल छुंडाकर शुद्ध अरहत परमात्मा होजाता है । आत्माके स्वाभाविक ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य क्षायिकसम्यक्त व वीतरागता आदि गुण प्रगट होजाते हैं । अव इसको पूर्ण निराकुलता हो जाती है । क्योकि सर्व दु ख व आकुलताके कारण मिट जाते है । परिणामोमे आकुलताके कारण ज्ञानदर्शनकी कमी, आत्मवलकी हीनता तथा रागद्वेष कपायोका वल है । यहापर अनत ज्ञानदर्शनवीर्य्य व वीतराग भाव प्रगट हो जाते हैं इससे आकुलताके सव कारण मिट जाते हैं । अरहत परमात्मा सर्वको जानते हुए भी अपने आत्मीक स्वादमे मगन रहते हैं । यह अरहत पद महान पद है जो इस पदमे जीता है वह जीवन मुक्त परमात्मा हो जाता है उसके अलौकिक लक्षण प्रगट हो जाते है, उसके मति श्रुत अवधि मनपर्यय ये ज्ञान नही रहते—ये ज्ञान सव केवलज्ञानमे समाजाते है ऐसा अद्भुत सर्वज्ञपद जिसके सर्व इन्द्र गणेन्द्र विद्याधर राजा आदि पूजा करते हैं, मात्र शुद्धोपयोग द्वारा आत्मामे प्रगट होजाता है ऐसा जान विकल्प हान धर्मध्यान चित ठान आत्मानद रसमे तन्मई हो शुद्धोपयोगका विलास भोगना चाहिये । यहा इतना और जानना कि आचार्यने मूल गाथामे कर्म रजको वर्णन किया है इससे यह सिद्ध किया है कि कर्म पुग्दल द्रव्यसे रची हुई कार्माण वर्गणाए हैं जो वास्तवमे मूल द्रव्य है कोई कल्पित नही है । कर्म वधकी वात अजैन लोग भी करते हैं परन्तु अजैन ग्रथोमे स्पष्ट

रीतिसे कर्म वर्गणाओके बध, फल व खिरने आदिका वर्णन नही है। जैन ग्रथोमे वैज्ञानिक रीतिसे कर्मोको पुदगलमई बतलाकर उनके कार्यको व उनके क्षयको बताया है। दूसरा अभिप्राय यह भी सूचित किया है कि आत्मामे पूर्ण ज्ञानकी शक्ति स्वय विद्यमान है कुछ नई पैदा नही होती है। कर्म रजके कारण शक्तिकी प्रगटता नही होती है। शक्तिको प्रगट होनेमे बाधकपना ही कर्म पुदगलका असर है। इसलिये शुद्धोपयोगके बलसे कर्म पुदग्ल आत्मासे भिन्न हो जाते हैं तब आत्माकी शक्तिमे प्रगट हो जाती है।

तह सो लद्धसहाओ, सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो।
भूदो सयमेवादा, हवदि सयंभुत्ति णिद्दिट्ठो ॥१६॥

तथा स लब्धस्वभाव सर्वज्ञ सर्वलोकपतिमहित।
भूत स्वयमेवात्मा भवति स्वयम्भूरिति निर्दिष्ट ॥१६॥

अर्थ :—इस गाथामे आचार्यने यह दिखलाया है कि अर्हंत परमात्माको स्वयभू क्यो कहते हैं यही शुद्धोपयोग मे परिणमता हुआ आत्मा आप ही मे अपने भाव को अपने लिये आप मे से आप मे ही समर्पण करता है। षट् कारकोका विकल्प कार्योमे हुआ करता है। इस विकल्प के दो भेद हैं—अभिन्न षट्कारक और भिन्न षट्कारक। भिन्न कारकका दृष्टान्त यह है कि जैसे किसान ने अपने भडार से बीजो को लेकर अपने खेत मे धन प्राप्ति के लिये अपने हाथो से बोया। यहा किसान कर्ता है, बीज कर्म है, हाथ करण है धन सम्प्रदान है, भडार अपादान है खेत अधिकरण है। इस तरह यहा छहो कारक भिन्न २ हैं। आत्मा की शुद्ध अवस्था की प्राप्ति के लिये अभिन्न कारक की आवश्यक्ता है निश्चय नयसे हरएक वस्तुके परिणमन मे जो परिणाम पैदा होता है उसमे ही अभिन्न कारक सिद्ध होते हैं जैसे सुवर्णको डली मे

एक कुडल बना। यहा कुडल रूप परिणामका उपादन कारण सुवर्ण है। अभिन्न छः कारक इस तरह कहे जासक्ते हैं कि सुवर्ण कर्ताने कुडल कर्मको अपने ही सुवर्णपनेके द्वारा (करण कारक) अपने ही कुन्डलभाव रूप शोभाके लिये (संप्रदान) अपने ही सुवर्ण धातुमे (अपादान) अपने ही सुवर्णपनेमे (अधिकरण) पैदा किया। यह अभिन्न षट्कारकका दृष्टान्त है। इसी तरह आत्मा ध्यान करनेवाला सम्पूर्ण पर द्रव्योमे अपना विकल्प हटा लेता है केवल अपने ही आत्माके सन्मुख उपयुक्त होनेकी चेष्टा करता है। स्वानुभव रूप एकाग्रताके पूर्व आत्माकी भावना के समयमे यह विचारवान प्राणी अपने ही आपमे षट्कारकका विकल्प इस तरह करता है कि मैं अपनी परिणतिका आप ही कर्ता हू मेरी परिणति जो उत्पन्न हुई है सो ही मेरा कर्म है। अपने ही उपादान कारणसे अपनी परिणति हुई है इसमे मैं आप ही अपना करण हू। मैंने अपनी परिणतिको उत्पन्न करके अपने आपको ही दी है इससे मैं आपही सम्प्रदान रूप हू। अपनी परिणतिको मैंने कही औरसे नही लिया है किंतु अपने आत्मासे ही लिया है इस लिये मैं आप ही अपादान रूप हू। अपनी परिणतिको मैं अपने आपमे ही धारण करता हू इसलिये मैं स्वय अधिकरण रूप हू। इस तरह अभेद षट्कारकका विकल्प करता हुआ ज्ञानी जीव अपने आत्माके स्वरूपकी भावना करता है। इस भावनाको करते करते जब आप आपमे स्थिर हो जाता है तब अभेद षट्कारकका विकल्प भी मिट जाता है। इस निर्विकल्प रूप शुद्ध भावके प्रतापसे यह आत्मा आप ही चार घातिया कर्मोसे अलग हो अरहंत परमात्मा हो जाता है इसलिये अरहंत महाराजको स्वयभू कहना ठीक है।

इस कथन से आचार्य ने यह भाव भी झलकाया है कि यदि तुम स्वाधीन, सुखी तथा शुद्ध होना चाहते हो तो अपने आप पुरुषार्थ करो। कोई दूसरा तुमको शुद्ध बना नहीं सक्ता है। मुक्ति का देनेवाला कोई नहीं है। तथा मोक्ष या शुद्ध अवस्था मागने से नहीं मिलती है, न भक्ति पूजन करने से प्राप्त होती है। वह तो आपका ही निज स्वभाव है, उसकी प्रगटता अपने ही पुरुषार्थसे होती है। जितने भी सिद्ध हुए हैं, होते है, व होंगे वे सर्व ही स्वयंभू हैं।

इस कथन से यह भी बात झलकती है कि यह आत्मा अपने कार्यका आप ही अधिकारी है। यह किसी एक ईश्वर परमात्मा के शासन मे नहीं है। वैज्ञानिक रीति से यह अपने परिणामों का आप ही कर्ता और भोक्ता है। जैसे भोजन करनेवाला स्वय भोजन करता है और स्वय ही उसका फल भोगता है व स्वय ही भोजन का त्याग करे तो त्यागी होजाता है, वैसे यह आत्मा स्वय अपने अशुद्ध भावों मे परिणमन करता है और उनका स्वय फल भोगता है। यदि आप ही अशुद्ध परिणति छोड़े और शुद्ध भावों मे परिणमन करे तो यह शुद्ध भाव को भोगता है तथा शुद्धोपयोग के अनुभवसे स्वय शुद्ध होजाता है।

इस प्रकार सर्वज्ञ की मुख्यता से प्रथम गाथा और स्वयभू की मुख्यताले दूसरी गाथा इस तरह पहले स्थलमें दो गाथाए पूर्ण हुईं।

भंगविहीणो य भवो, संभवपरिवज्जिदो विणासो हि।
विज्जदि तस्सेव पुणो, ठिदिसंभवणाससमवायो ॥१७॥

भङ्गविहीनश्च भवः सम्भवपरिवर्जितो विनाशो हि।
विद्यते तस्यैव पुनः स्थितिसम्भवनाशसमवायः ॥१७॥

अर्थ—आचार्यने इस गाथामे यह सिद्ध किया है कि शुद्धोपयोगके फलसे जो शुद्ध अवस्था होजाती है वह यद्यपि सदा वनी रहती है तथापि द्रव्य लक्षणसे गिर नहीं जाती है। द्रव्यका लक्षण सत् है, सत् है सो उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है तथा द्रव्य गुण पर्यायवान है। यह लक्षण हरएक द्रव्य में हरसमय पाया जाना चाहिये अन्यथा द्रव्यका अभाव ही होजायगा। अ: शुद्ध जीवमे तो हम देखते है कि कोई जीव मनुष्य पर्यायके त्यागसे देव पर्यायरूप हो जाता है, पर आत्मापनेमे ध्रौव्य है अर्थात् आत्मा दोनो पर्यायोमे वही है अथवा एक मनुष्य वालवयके नाशसे युवावयका उत्पाद करता है परन्तु मनुष्य उपेक्षा वही है, ध्रौव्य है। इसी तरह पुदग्ल भी झलकता है। लकड़ीको पर्यायसे जव चौकीकी पर्याय वनती है तव लकडीका व्यय, चौकीका उत्पाद तथा जितने पुदग्लके परमाणु लकडीमे हैं उनका ध्रौव्यपना है। यदि यह वात न माने तो किसी भी वस्तुसे कोई काम नही हो सक्ता। वस्तुका वस्तुत्व ही इस त्रिलक्षणमई सत् लक्षणसे रहत है। यदि मट्टी, पानी, वायु, अग्नि कूटस्थ जैसेके तैंसे वने रहते तो इनसे वृक्ष, मकान, वर्तन, खिलौने, कपडे आदि कोई भी नही वन सक्ते। जिस समय मिट्टीका घडा वनता है उसी समय घडेकी अवस्थाका उत्पाद है घडेकी, वननेवाली पूर्व अवस्थाक व्यय है तथा जितने परमाणु घडेकी पूर्व पर्यायमे थे उतने ही परमाणु घडेकी वर्तमान पर्यायमे है। यदि कुछ झड गए होंगे त कुछ मिल भी गए होगे। यही ध्रौव्यपना है। यह लोक को विशेष वस्तु नही है किन्तु सत्ता रूप सर्व द्रव्यों के समुदायक लोक कहते हैं। जितने द्रव्य लोकमे हैं वे सदासे हैं सदा रहें क्योकि वे सब ही द्रव्य द्रव्य और अपने सहभावी गुणोंक अपेक्षा अविनाशी नित्य हैं परन्तु अवस्थाए समय २ होती हैं,

अनित्य है क्योकि पिछली अवस्था विगडकर अगली अवस्था होती है। इस लिये द्रव्यका लक्षण उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप है। द्रव्य का दूसरा लक्षण गुण पर्यायवान कहा है सो भी द्रव्यमे सदा पाया जाता है। एक द्रव्य अनत गुणोका समुदाय है। ये गुण उस समुदायी द्रव्यमे सदा साथ साथ रहते है इस लिये गुणोकी ही नित्यता या ध्रौव्यता रहती है। गुणके विकारको पर्याय कहते है। हरएक गुण परिणमनशील है—इसलिये हरएक समयमे पुरानी पर्यायका व्यय और नवीन पर्यायका उत्पाद होता है परन्तु पर्यायोमे रहित गुण होते नही इसलिये द्रव्य गुण पर्यायवान होता है यह लक्षण भी द्रव्यका हर समय द्रव्यमे मिलना चाहिये। यहा एक बात और जाननी योग्य है कि एक द्रव्यमे बन्धन प्राप्त दूसरे द्रव्यके निमित्तसे जो पर्याये होती है वे अशुद्ध या विभाव पर्याये कहलाती है और जो द्रव्यमे विभावकारक द्रव्यका निमित्त न होनेपर पर्याय होती है उनको स्वभाव या सदृश पर्याय कहते है। जब जीव पुद्गल कर्मके बन्धनसे गृसित है तब इनके विभाव पर्याय होती है। परन्तु जब जीव शुद्ध हो जाता है तब केवल स्वभाव पर्याये ही होती है। इस गाथामे आचार्यने पहले तो यह बताया है कि जब यह आत्मा शुद्ध हो जाता है तब सदा शुद्ध बना रहता है, फिर कभी अशुद्ध नही होता है। इसी लिये यह कहा कि जब यह आत्मा शुद्धोपयोगके प्रसादसे शुद्ध होता है अथवा जब उसके शुद्धताका उत्पाद होजाता है तब वह विनाश रहित उत्पाद होता है और जो अशुद्धताका नाश होगया है सो फिर उत्पाद रहित नाश हुआ है। इस तरह सिद्ध भगवान नित्य अविनाशी है तथापि उनमे उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप लक्षण घटता है। इसीको वृत्तिकारने इस तरह बताया है कि जिस समय सिद्ध पर्यायका उत्पाद हुआ उसी

समय ससार पर्यायका नाश हुआ और जीव द्रव्य सदा ही ध्रौव्य रूप है। इस तरह सिद्ध पर्यायके जन्म समयमे उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनो सिद्ध होते हैं। इसके सिवाय सिद्ध व्यवस्थाके रहते हुए भी उत्पाद व्यय ध्रौव्य पना सिद्धोंके बाधा रहित है। क्योंकि अल्पज्ञानियोको विभाव पर्यायका ही अनुभव है स्वभाव पर्यायका अनुभव नही है इसलिये शुद्ध जीवादि द्रव्योमे जो स्वभाव पर्यायें होती हैं उनका बोध कठिन मालुम होता है। आगममे अगुरु लघु गुणके विकारको अर्थात् षट् गुणी हानि वृद्धिरूप परिणमनको स्वभाव पर्याय बतलाया है। इसका भाव यह समझमें आता है कि अगुरुलघु गुणमे जो द्रव्यमे सर्वांग व्यापक है समुद्रजलकी कल्लोलवत् तरगे उठती हैं जिसमे कही वृद्धि व कही हानि होती है परन्तु अगुरुलघु बना रहता है। जैसे समुद्रमे तरगे उठने पर भी समुद्रका जल ज्योका त्यो बना रहता है केवल कही उठ कही बैठा हो जाता है इसी तरह अगुरुलघु गुणके अशोमे वृद्धि हानि होती हैं क्योंकि हरएक गुण द्रव्यमे सर्वांग व्यापक है इस लिये अगुरुलघु गुणके परिणमनसे सर्व ही गुणोमे परिणमन हो जाता है। इस तरह शुद्ध द्रव्यमे स्वभाव पर्यायें समझमे आती है। इस स्वभाव पर्यायका विशेष कथन कही देखनेमे नही आया। आलाप पद्धतिमे अगुरुलघु गुणके विकारको स्वभाव पर्याय कहा है और समुद्रमे जल कल्लोलका दृष्टांत दिया है इसीको हमने ऊपर स्पष्ट किया है। यदि इससे कुछ त्रुटि हो व विशेष हो तो विद्वजन प्रगट करेगे व निर्णय करके शुद्ध करेंगे।

द्रव्यमे पर्यायोका होना जब द्रव्यका स्वभाव है तब शुद्ध या अशुद्ध दोनो ही अवस्थाओमे पर्यायें रहनी ही चाहिये। यदि शुद्ध अवस्थामे परिणमन न माने तब अशुद्ध अवस्थामे भी नही मान सक्ते हैं। पर जब कि अशुद्ध अवस्थामें परिणमन

होता है तब शुद्ध अवस्थामे भी होना चाहिये, इसी अनुमानसे सिद्धोंमे भी सदा पर्यायोंका उत्पाद व्यय मानना चाहिये। परिणमन स्वभाव होने ही से सिद्धोंका ज्ञान समय समय पर शुद्ध स्वात्मानन्दका भोग करता है। शुद्ध सिद्ध भगवानमे कोई कर्म बंध नही रहा है इसीसे वहा विभाव परिणाम नहीं होते, केवल शुद्ध परिणाम ही होते हैं। परिणाम समय समय अन्य अन्य है इसीसे उत्पाद व्यय ध्रौव्यपना तथा गुण पर्यायवानपना सिद्धोंके सिद्ध है। इस कथनमें आचार्यने यह भी बताया है कि मुक्त अवस्थामे आत्माकी सत्ता जैसे संसार अवस्थामे रहती है वैसे बनी रहती है। सिद्ध जीव सदा ही अपने स्वभावमे व सत्तामे रहते है न किसीमे मिलते है न सत्ताको खो बैठते है।

उप्पादो य विणासो, विज्जदि सव्वस्स अत्थजादस्स।
पज्जाएण दु केण वि अत्थो खलु होदि सब्भुदो। १८॥

उत्पादश्च विनाशो विद्यते सर्वस्यार्थजातस्य।
पर्यायेण तु केनाप्यर्थः खलु भवति सद्भूतः ॥१८॥

अर्थ।—यहा आचार्यने पहली गाथाके इस भावको स्वयं स्पष्टकर दिया है कि सिद्ध भगवानमे अविनाशीपना होते हुए भी उत्पाद और विनाश किस तरह सिद्ध होते है। इसका बहुत सीधा उत्तर श्री आचार्य महाराजने दिया है कि हरएक वस्तु जो जो जगतमे है उस हरएक पदार्थमे जैसे उस द्रव्यकी सत्ता सदा बनी रहती है वैसे उसमें अवस्थाका उत्पाद और विनाश भी देखा जाता है वैसे ही सिद्ध भगवानमे भी जानना चाहिये। वस्तु कभी अपरिणामी तथा कूटस्थ नित्य नही हो सक्ती है। हरएक द्रव्य परिणामी है क्योंकि द्रव्यत्व नामका सामान्य गुण सर्व द्रव्यों-मे व्यापक है। द्रव्यत्व वह गुण है जिसके निमित्तसे द्रव्य सदा

कूटस्थ न रहकर परिणमन किया करे। इस परिणमन स्वभावके ही कारण प्रत्यक्ष जगत मे अपने इद्रियगोचर पदार्थोंमे कार्य दिखलाई पडते है। सुवण परिणमनशील है इसीसे उसके कु डल, कडे, मुद्रिका आदि वन सक्ते है तथा मुद्रिकाको तोड व गलाकर पीटकर वाली वाले वन सक्ते है। मिट्टीके वर्तन व मकान, गौके दूवसे खीवा, खोवेसे लड्डू, वर्फी, पेडे आदि वन सक्ते हैं। यदि वदलनेकी शक्ति पुदग्लमे न होती तो मिट्टी, पानी, वायु, अग्नि द्वारा कोई फल फूल वनस्पति नही हो सक्ती और न वनास्पतिसे जलाने की लकडी, द्वारके कपाट, चौकी, कुरसी पलग आदि वन सक्ते। यह जगत परिणामनशील पदार्थसमूहके कारण ही नाना विचित्र दृश्योको दिखला रहा है मूलमे देखें तो इस लोकमे केवल छ द्रव्य हैं। जीव, पुदग्ल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल। इनमे चार तो सदा उदासीन रूपसे निष्क्रिय रहते है कुछ भी हलन चलन करके काम नही करते ओर न प्रेरणा करते है। किन्तु जोव और पुदग्ल क्रियावान हैं। दो ही द्रव्य इस ससारमे चलते फिरते हैं। तथा परस्पर मयोग से अनेक सयुक्त अवस्थाओको भी दिखाते हैं। इनकी क्रियाए व इसके कार्य प्रगट हैं इनहीसे यह भारी तीनलोक वनता विगडता रहता है। ससारी जीव पुदग्लोको लेकर उनकी अनेक प्रकार रचना बननेमे कारण होते हैं। तथा पुदग्ल ससारी जीवोके निमित्तसे अथवा अन्य पदग्लोके निमित्तसे अनेक प्रकार अवस्थाओको पैदा करते हैं। ससारी आत्माओके द्रव्य कर्मोका वध स्वय ही कार्माण वर्गणाओ के कर्म रूप परिणमनसे होता है यद्यपि इस परिणमन मे ससारी आत्माके योग और उपयोग कारण हैं। जगतमे कुछ काम आत्माके योग उपयोगकी प्रेरणासे होते है जैसे मकान, आभूषण् वर्तन, पुस्तक, वस्त्र आदिका वनाना। कुछ काम ऐसे है जिनको पुदग्ल परस्पर निमित्त बन

किया करते है जैसे पानी का भाफ बनना, भाफ का मेघरूप होना, मेघोका गरजना, बिजली का चमकना, नदीमे बाढ़ आना, गावोका बह जाना, मिट्टीका जमना, पर्वतोका टूटना, बर्फका गलना आदि। यदि परिणमनशक्ति द्रव्यमे न हो तो कोई काम नही होसक्ते। जब प्रत्यक्ष दिखने योग्य कार्यो मे परिणमनशक्ति काम करती मालूम पडती है तब अदि सूक्ष्म शुद्र द्रव्य मे परिणमनशक्ति न रहे तथा वे परिणमन न करे यह बात असभव है। इसी से सिद्धो मे भी पर्याय का उत्पाद और विनाश मानना होगा। वृत्तिकारने तीन तरह उत्पाद व्यय बताया है। एक तो अगुरुलघु गुण के द्वारा, दूसरा परकी अपेक्षा से जैसे ज्ञानमे जैसे ज्ञेय परिणमन करके झलकते हैं वैसे ज्ञानमे परिणमन होता है, तीसरे सिद्ध अवस्थाका उत्पाद पूर्व पर्यायका व्यय और आत्मा द्रव्यका ध्रौव्यपना। इनमे स्वाश्रित स्वभाव पर्यायो का होना अगुरुलघु गुण के द्वारा कहना वास्तविक स्व अपेक्षारूप है और ऐसा परिणमन शुद्र आत्मा द्रव्य मे सदा रहता है। यहा गाथामे पर्याय की अपेक्षा से ही उत्पाद तथा व्यय कहा है तथा ध्रौव्यपना कहने मे उत्पाद व्यय अलग रह जाते है इससे किसी प्रत्यभिज्ञान के गोचर स्वभाव रूप पर्याय के द्वारा ही ध्रौव्यपना है। द्रव्यार्थिक नयमे इन तीन रूप सत्ताको रखने वाला द्रव्य है। यदि पर्यायो का पलटना सिद्धो मे न माने तो समय समय अनन्त सुख का उपभोग सिद्धो के नही हो सकेगा। इस तरह सिद्ध जीव मे द्रव्यार्थिक नयसे नित्यपना होने पर भी पर्याय की अपेक्षा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यपनेको कहते हुए दूसरे स्थल मे दो गाथाए पूर्ण हुई।

तं सव्वत्थवरिट्ठं, इट्ठं अमरासुरप्पहाणेहिं।
ये सद्दहंति जीवा, तेसिं दुक्खा णि खीयंति ॥१९॥

त सर्वार्थवरिष्ट इष्ट अमरासुरप्रधानैं ।
ये श्रद्दधति जीवा तेषा दुःखानि क्षीयन्ते ॥१६॥

अर्थ —इस गाथाकी टीका श्री अमृतचन्द्र आचार्यने नहीं की है परन्तु जयसेनाचार्यने की है। इस गाथाका भाव यह है शुद्धोपयोगमई साम्यभावका आश्रय करके जिन भव्य जीवो ने सर्वज्ञ पद या सिद्ध पद प्राप्त किया है वे ही हमारे उपासको के लिये पूज्यनीय उदाहरण रूप आदर्श है। जिस पूर्ण वीतरागता, पूर्ण ज्ञान पूर्ण वीर्य तथा पूर्ण सुख का लाभ हर एक आत्मा चाहता है उसका लाभ जिसने कर लिया है वह आत्मा तथा जिस उपायसे ऐसा लाभ किया है वह मार्ग दोनो ही धर्मेच्छु जीव के लिये आदर्श रूप हैं—शुद्धोपयोग मार्ग है और शुद्ध आत्मास्वरूप उस मार्ग का फल है इन दोनो का यथार्थ श्रद्धान और ज्ञान होना ही शुद्धोपयोग और उसके फलरूप सर्वज्ञ पद की प्राप्तिका उपाय है। इसी लिये सुख के इच्छुक पुरुष को उचित है कि अरहत सिद्ध परमात्मा के स्वरूप का श्रद्धान अच्छी तरह रक्खे और उनकी पूजा भक्ति करे, उनका ध्यान करे तथा उनके समान होने की भावना करे। प्रमत्त गुणस्थानो मे पूज्य पूजक ध्येय ध्याताका विकल्प नही मिटता है इस लिये छठे गुणस्थान तक भक्ति का प्रवाह चलता है। यद्यपि सच्चे श्रद्धान सहित यह भक्ति शुभोपयोग है तथापि शुद्धोपयोग के लिये कारण है। क्योकि सर्वज्ञ भगवान की व उनकी भक्ति की श्रद्धा मे विपरीताभिनिवेशका अभाव है अर्थात् सर्वज्ञ व उनकी भक्ति की श्रद्धा इसी भाव पर आलम्बन रखती है कि शुद्धोपयोग प्राप्त करना चाहिये। शुद्धोपयोग ही उपादेय है। क्योकि यही वर्तमान मे भी अतीन्द्रिय आनन्दका कारण है तथा भविष्य मे भी सिद्ध स्वभावको प्रगट करने वाला है। इसलिये हर-एक धर्मधारी को रागी द्वेषी मोही सर्व आप्तो या देवोको त्यागकर

एक मात्र सर्वज्ञ वीतराग हितोपदेशी अरहंत मे तथा परम निरंजन शुद्ध परमात्मा सिद्ध भगवान मे ही श्रृद्धा रखकर हरएक मगलीक कार्य मे इनका पूजन भजन करना चाहिये ।

इस तरत निर्दोप परमात्माके श्रृद्धान से मोक्ष होती है ऐसा कहते हुए तीसरे स्थल मे गाथा पूर्ण हुई ।

पक्खीणघादिकम्मो, अणंतवरवीरिओ अधिकतेजो ।
जादो अदिंदिओ सो, णाणं सोक्खं च परिणमदि ॥२०॥

प्रक्षीणघातिकर्मा अनन्तवरवीर्योऽधिकतेजा ।
जातोतीन्द्रिय स ज्ञान सौख्य च परिणमते ॥२०॥

अर्थ —इस गाथाका भाव यह है कि सर्वज्ञपना और अनन्त निर्विकार निराकुल सुखपना इस आत्मा का निज स्वभाव है। ससारी आत्मा के कर्मो का बंधन अनादिकाल से हो रहा है। इसीसे स्वभाविक ज्ञान और सुख प्रगट नही है। जितना ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम है उतना ही ज्ञान प्रगट है। सर्व ससारी जीवोमे जबतक केवलज्ञान न हो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो प्रगट रहते ही हैं, परन्तु ये ज्ञान परोक्षा है—इन्द्रिय और मनकी सहायता बिना नही होते है। जितना मतिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है उतना मतिज्ञान व जितना श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है उतना श्रुतज्ञान प्रगट रहता है। आत्माका साक्षात् प्रत्यक्ष केवलज्ञान होनेपर होता है वह केवलज्ञान सम्पूर्ण ज्ञानावरणीय के हट जाने से ही प्रगट होता है तब पराधीन परके आश्रय से जानने की जरूरत नही रहती है। आत्मा का ज्ञान स्वभाव है, तब आत्मा लोक अलोक सर्वको उनके अनन्त द्रव्य और उनके अनन्त गुण और अनन्त पर्याय सहित एक ही समय मे

विना क्रमके जान लेता है। और यह ज्ञान कभी मिटना नही है अनतकालतक रहता है। क्योंकि यह ज्ञान आत्माका स्वभाव है। इसी तरह अनत अतीन्द्रिय निर्मल सुख भी आत्माका स्वभाव है। इसको चारो ही घातिया कर्मोने रोक रक्खा है। इन कर्मोके उदयके कारण प्रत्यक्ष निर्मल सुखका अनुभव नही होता है। इन चार कर्मोमेसे सर्वसे प्रबल मोहनीय कर्म है। इसमे भी मिथ्यात्व प्रकृति और अनतानुबधी कषाय सबसे प्रबल हैं। जबतक इनका उपशम या क्षय नही होता तबतक सुख गुणका विपरीत परिणमन होता है अर्थात् इद्रिय द्वारा सुख होता है ऐसा समझता है, पराधीन कल्पित सुखको सुख मानता है और निरतर ज्यो २ इस इद्रिय जनित सुखको भोग पाता है त्यो २ अधिक २ तृष्णाकी वृद्धि करता है उस तृष्णासे आतुर होकर जैसे मृग वनमे भ्रमसे घासको पानी समझ पीनेको दौडता है और अपनी प्यास बुझानेकी अपेक्षा अधिक बढा लेता है तैसे अज्ञानी मोही जीव भ्रमसे इन्द्रिय सुखको सुख जानकर वार वार इन्द्रियके पदार्थोके भोगमे प्रवर्नता है और अधिक २ इन्द्रिय चाहकी दाहमे जलकर दुखी होता है। परन्तु जिस किसी आत्माको दर्शनमोह और अनन्तानुबन्धी कषायका उपशम, क्षयोपशम या क्षय होकर सम्यक्त पैदा हो जाता है उसी आत्माको सम्यक्तके होते ही आत्माका अनुभव अर्थात् स्वाद आता है तब ही सच्चे सुखका परोक्ष अनुभव होता है, यद्यपि यह अनुभव प्रत्यक्ष केवलज्ञानकी प्रगटता न होनेसे परोक्ष है तथापि इन्द्रिय और मनका व्यापार बन्द होनेसे तथा आत्माकी सन्मुखता आत्माकी तरफ रहनेसे स्वसवेदन प्रत्यक्ष कहलाता है। सम्यक्त होते ही सच्चे सुखका स्वाद आने लगता है। फिर जितना जितना ज्ञान बढता जाता है तथा कषाय मद होता जाता है उतना

इतना अधिक निर्मल और अधिक कालतक सच्चे सुखका स्वाद आता है। केवलज्ञान होनेपर पूर्ण शुद्ध प्रत्यक्ष और अनंत सच्चे सुखका लाभ हो जाता है क्योंकि यह स्वाभाविक अतीन्द्रिय सुख है, जो कर्मोंके आवरणसे ढका था अब आवरण मिट गया इससे पूर्णपने प्रगट हो गया। अंतरायके अभावसे अनंत बल आत्मामें पैदा हो जाता है इसी कारण अनंतज्ञान व अनंत सुख सदाकाल अपनी पूर्ण शक्तिको लिये हुए विराजमान रहते हैं। इस तरह आचार्यने शिष्यकी शंका निवारण करते हुए बता दिया कि जिस इन्द्रियजनित ज्ञान व सुखमें संसारी रागी जीव अपनेको ज्ञानी और सुखी मान रहे हैं वह ज्ञान व सुख न वास्तविक निर्मल स्पष्ट ज्ञान है न सच्चा सुख है। सच्चा स्वाभाविक स्पष्ट ज्ञान और सुख तो अरहंत और सिद्ध परमात्माको हो जाता है जिसकी उत्पत्तिका कारण शुद्धोपयोग या साम्यभाव है जिसके आश्रय करनेकी सूचना आचार्यने पहले ही की थी इसलिये सर्व रागद्वेष मोहसे उपयोग हटाकर शुद्धोपयोगकी ही भावना करनी चाहिये कि मेरा स्वभाव निश्चयसे अनन्तज्ञानादि चतुष्टय रूप है ऐसा तात्पर्य है।

सोक्खं वा पुण दुक्खं, केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं
जम्हा अदिंदियत्तं, जादं तम्हा दु तं णेयं ॥ २० ॥

सौख्यं वा पुनर्दुःखं केवलज्ञानिनो नास्ति देहगतम्।
यस्मादतीन्द्रियत्वं जातं तस्मात् तज्ज्ञेयम् ॥ २० ॥

अर्थः—इस गाथामें आचार्यने बताया है कि अरहंतोंके मतिज्ञानादि चार ज्ञानका अभाव होनेसे तथा केवलज्ञानका प्रकाश होनेसे उपयोगकी प्राप्ति निज आत्मामई है। उपयोग पांच इंद्रिय तथा मनके द्वारा परिणमन नहीं करता है। परोक्षज्ञानका अभाव

होगया है । प्रत्यक्ष ज्ञान प्रगट होगया है। इसलिये छद्मस्थ अल्प ज्ञानियो के जो इन्द्रियो के द्वारा पदार्थ ग्रहण होता था व मन मे सकल्प विकल्प होते थे सो सव मिट गए है । इसलिये इन्द्रियो के द्वारा पदार्थ भोग नही है न इन्द्रियो की वाधा है न उनके विपयकी चाहका दु ख है न इन्द्रियो के द्वारा सुख हैं । क्योकि देहके मम-त्वसे सर्वथा रहित होने से अरहतो की सन्मुखता हो उस ओर नही है इसलिये शरीर सम्वन्धी दु ख या सुख केवली के अनुभव मे नही आता है । केवली मन्द सुगन्ध पवन व समवशयणादि लक्ष्मी आदि किसी भी पदार्थ का भोग नही करते इसलिये इन पदार्थो के द्वारा केवलज्ञानीको कोई सुख नही है न शरीर की दशाकी अपेक्षा से कभी कोई दु ख होसक्ता है, न उनको भूख प्यास की वाधा होती, न रोग की आकुलता होती, न कोई थकन होती, न खेद होता—देह सम्वन्धी सुख दु ख का वेदन केवली के नही है इसलिये कभी क्षुधाके भावका विकार नही पैदा होता है न मैं निर्वल हू यह भाव होता है। उनका भाव सदा सन्तोषी परमा-नद मई स्वात्माभिमुखी होता है । केवली भगवान का शरीर दार्घकालतक विना ग्रासरूप भोजन किये भी पुप्ट रहता है क्योकि उनके लेप आहार की तरह नोकर्म आहार है जिससे पौष्टिक वर्ग-णाए, शरीरमे मिलती रहती हैं। केवली का शरीर कभी निर्वल नही होसक्ता वहा लाभातरायका सर्वथा क्षय है तथा सातावेदनीयका परम उदय है । श्वेताम्वर आम्नाय मे जो केवली के क्षुवाकी वाधा वताकर भोजन करना वताया है ।उसका वृत्तिकारने वहुत अच्छी तरह समाधान कर दिया है । केवलज्ञानी के अतीन्द्रिय स्वाभाविक ज्ञान तथा अतीन्द्रिय स्वाभाविक आनन्द रहता है, कर्मोदयकी प्रधानता मिटाकर स्वाधीनता प्राप्त हो जाती है, तात्पर्य्य यह है कि परमज्ञान स्वरूप तथा परमानदमई केवली की

अवस्थाको उपादेय मानकर उसकी प्राप्ति के लिये शुद्धोपयोगकी भावना करनी योग्य है।

इस तरह अनन्तज्ञान और सुखकी स्थापना करते हुए प्रथम गाथा तथा केवली के भोजन का निराकरण करते हुए दूसरी गाथा इस तरह दो गाथाएं पूर्ण हुई।

इति सात गाथाओं के द्वारा चार स्थलों से सामान्य से सर्वज्ञ सिद्धि नाम का दूसरा अन्तर अधिकार समाप्त हुआ।

परिणमदो खलु णा, णं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया।
सो णेव ते विजाणदि ओग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं ॥२१॥

परिणममानस्य खलु ज्ञानं प्रत्यक्षाः सर्वद्रव्यपर्यायाः।
स नैव तान् विनाजात्यवग्रहपूर्वाभिः क्रियाभिः ॥२१॥

अर्थः—इस गाथामें आचार्यने केवलज्ञानकी महिमा वताई है अभिप्राय यह है कि सहजज्ञान आत्माका स्वभाव है। आत्मा गुणी है ज्ञान गुण है। इनका तादात्म्य सम्बन्ध है जो कभी मिट नहीं सक्ता। ज्ञान उसे कहते हैं जो सर्वज्ञेयोंको जान सके। जितने द्रव्य हैं उन सबमें प्रमेयत्वनामा साधारण गुण व्यापक है। जिस गुण के निमित्त से पदार्थ किसी न किसी के ज्ञानका विषय हो वह प्रमेयत्व गुण है। आत्माका निरावरण शुद्ध ज्ञान तब ही पूर्ण और शुद्ध कहा जासक्ता है जब वह सब जानने योग्य विषय को जान सके। इसी लिये केवली सर्वज्ञ भगवान के सर्व पदार्थ, गुण, पर्याय एक साथ झलकते रहते हैं। जब तक ज्ञान गुण में ज्ञानावरणीय कर्मका आवरण थोड़ा या बहुत रहता है तबतक ज्ञान सब पदार्थो को एक साथ नहीं जान सक्ता है। थोड़े थोड़े पदार्थों को जानकर फिर उनको छोड़ दूसरों को जानता

है ऐसा क्रमवर्ती क्षयोपशमिक ज्ञान है । मतिज्ञान में अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार ज्ञान की श्रेणिया क्रम से होती है तब कही इन्द्रिय या मन मे प्राप्त पदार्थ का कुछ बोध होता है ऐसा ज्ञान केवली भगवान के नही है । क्षायिकज्ञान के होते ही क्षयोपशमिक ज्ञान चारो नष्ट होजाते हैं । वास्तवमे ज्ञान एक ही है। आवरण कम अधिक की अपेक्षामे ज्ञानके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान तथा मन पर्ययज्ञान ऐसे चार भेद हैं। जब आवरण का परदा बिलकुल हट गया तब ज्ञान के भेद मिट गए—जैसा स्वभाव आत्मा का था वैसा ज्ञान स्वभाव प्रगट हो गया। चार ज्ञानो की अपेक्षा से इस स्वाभाविक ज्ञान को केवलज्ञान कहते है । जिस समय क्षीणमोह गुणस्थान मे तिष्टकर अतर्मुहूर्त तक आत्मानुभव किया जाता है उसी समय आत्मानुभवरूप द्वितीय शुक्लध्यान के बल से जैसे मेघपटल हटकर सूर्य्य प्रगट हो जाता है वैसे सर्व ज्ञानवरण हटकर ज्ञान सूर्य्य प्रगट हो जाता है। तब ही सर्व चर अचरमई लोक हाथपर रक्खे हुए आमलेके समान प्रकाशमान हो जाता है । यही ज्ञान अनन्तकाल तक बना रहता है, क्योकि कर्म आवरणका कारण मोह है सो केवली भगवान के बिलकुल नष्ट होगया है । केवली भगवान सर्व को सदा जानते रहते हैं इस लिये क्रमवर्ती जानने वालो के जैसे आगे के जानने के लिये कामना होती है सो कामना केवली के नही होती है। जैसे छद्मस्थोमे किसी बात के जानने की चाह होती है और वह चाह जब तक मिट नही जाती तब तक बडी आकुलता रहती है। अक्रमज्ञान होने ही से केवली भगवान के किसी ज्ञेय के जानने की चिंता या आकुलता नही होती है। केवलज्ञान की महिमा वचन अगोचर है । ऐसा निराकुलता का कारण केवलज्ञान जिनके पैदा हो जाता है वे धन्य हैं—वे ही परमात्मा हैं। उन्होने ही भवसा-

गरसे पार पा लिया है। उनही ने भ्रम और विकल्पके मेघोको दूर भगा दिया है। वे ही आवागमन के चक्र से वाहर हो जाते हैं। ऐसा केवलज्ञान जिस शुद्धोपयोग की भावना से प्राप्त होता है उस ही शुद्धोपयोग की निरतर भावना करनी चाहिये।

णत्थि परोक्खं किंचिवि, समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स।
अक्खातीदस्स सदा, सयमेव हि णाणजादस्स ॥२२॥

नास्ति परोक्ष किञ्चिदपि समन्तत लर्वाक्षगुणसमृद्धस्य।
अक्षातीतम्य सदा त्वयमेव हि ज्ञानजातस्य ॥ २२ ॥

अर्थ —इस गाथामे आचार्यने यह वताया हैं कि केवल ज्ञानी की अतीव भारी सामर्थ्य है। इन्द्रियज्ञान में वहुत तुच्छ शक्ति होती है। जो इन्द्रिय स्पर्शका विषय जानती है वह अन्य विपयो को नही जान सक्ती, जो रसकी जानती है वह गध को नही जान सक्ती। इस तरह एक एक इन्द्रिय एक एक विषय को जानती है। परतु केवलज्ञानीकी आत्मामे सर्व ज्ञानावरणीय कर्मके नाश होने से ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है कि आत्मा के असख्यात प्रदेशो मे से हरएक प्रदेश मे सर्व ही इन्द्रियो से जो ज्ञान अलग २ क्रमसे होता है वह सर्व ज्ञान हो सक्ता है अर्थात् हरएक आत्मा का प्रदेश सर्व ही विपयो को एक साथ जानने की समर्थ है।

तक कि तीनलोक तीन काल सर्व पर्यायो को और अलोकाकाशको एक आत्मा का प्रदेश जान सक्ता है। ऐसा निर्मल ज्ञान शुद्ध आत्मा मे सर्व प्रदेशो मे व्याप्त होता है। इस ज्ञान के इन्द्रियो की सहायता विलकुल नही रही है। यह ज्ञान पराधीन नही हैं किन्तु स्वाधीन है। ऐसा केवलज्ञान एक साधु को स्वय ही शुद्धोपयोग मे तन्मय होने से प्राप्त होता है। कोई केवलज्ञान की शक्तिको देता नही है न यह आत्मा किसी अन्य पदार्थ से

इस ज्ञानकी शक्तिको प्राप्त करता है । यह केवलज्ञान इस आत्माका ही स्वभाव है । यह इस आत्मामें ही था, आवरणके दूर होनेसे अपने ही द्वारा प्रकाशित होजाता है । ऐसे केवलज्ञानमें सर्व ही ज्ञेय सदाकाल प्रत्यक्ष रहते है, कोई भी कही भी कभी भी कोई पदार्थ या गुण या पर्याय ऐसी नही है जो केवलज्ञानीके ज्ञानसे परे हो या परोक्ष हो, इसीको सर्वज्ञता कहते हैं । केवलज्ञानमें सबसे अधिक अविभाग परिच्छेद होते हैं, उत्कृष्ट अनतानतका भेद यही प्राप्त होता है । इस लिये षट्द्रव्यमयी उपस्थिति समुदायके सिवाय यदि अनन्तानन्त ऐसे समुदाय हो तो भी केवलज्ञानमे जाने जा सक्ते है ऐसी अपूर्व शक्ति इस आत्माको शुद्धोपयोग द्वारा प्राप्त होती है ऐसा जानकर आत्मार्थी जीवको उचित है कि रागद्वेष मोहका त्याग करके एक मनसे साम्यभाव या शुद्धोपयोगका मनन करे, यही तात्पर्य है ।

इस तरह केवलज्ञानियोंको सर्व प्रत्यक्ष होता है ऐसा कहते हुए प्रथम स्थलमें दो गाथाए पूर्ण हुई ॥२२॥

आदा णाणपमाणं, णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं ।
णेयं लोगालोगं, तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥२३॥

आत्मा ज्ञानप्रमाण ज्ञान ज्ञेयप्रमाणमुद्दिष्ट ।
ज्ञेय लोकालोक तस्माज्ज्ञान तु स्वगतम् ॥ २३ ॥

अर्थ—यहा आचार्यने बताया है कि गुण और गुणी एक क्षेत्रावगाही होते हैं तथा हरएक गुण अपने आधारभूत द्रव्यमे व्यापक होता है । जितने प्रदेश द्रव्यके होते हैं उतने ही प्रदेश गुणोके होते हैं । ऐसा होनेपर भी गुण स्वतत्रतासे अपना अपना कार्य करता है । यहा आत्मा द्रव्य है, और उसका मुख्य गुण ज्ञान

है । ज्ञान आत्माके प्रमाण है आत्मा ज्ञान के प्रमाण है । आत्मा असख्यात प्रदेशी है इसलिये उसका ज्ञान गुण भी असख्यात प्रदेशी है। दोनो का तादात्म्य सम्बन्ध है, जो कभी अलग नही था न अलग होसक्ता है । यद्यपि ज्ञान गुणकी सत्ता आत्मा मे ही है तथापि ज्ञान गुण अपने पूर्ण कार्य को करता है अर्थात् सर्व जानने योग्य पदार्थो को जानता है , कोई ज्ञेय उसके बाहर नही रह जाता इससे विषय की अपेक्षा ज्ञान ज्ञेयोके बराबर है । ज्ञेयोका विस्तार देखा जाय तो सर्व लोक और अलोक है। जितने द्रव्य गुण व तीन कालवर्ती पर्याय है वे सब जानने के विषय है और ज्ञान उन सबको जानता है इस कारण ज्ञान को सर्वगत या सर्व-व्यापक कह सकते है ।

यहा पर आख का दृष्टात है जैसे आख की पुतली अपने स्थान पर रहती हुई भी बिना स्पर्श किये बहुत दूर से भी पदार्थो को जान लेती है, ऐसे ही ज्ञान आत्मा के प्रदेशो मे ही रहता है तथापि विषय की अपेक्षा सर्व लोकालोक को जानता है । यहा पर कोई २ ज्ञानको सर्वथा आकाश प्रमाण व्यापक मान लेते हैं उनका निषेध किया कि ज्ञान द्रव्य को छोडकर चला नही जाता । वह लोकालोकको जानता है तथापि आत्मामे ही रहता है । कोई २ आत्माको भी सर्वव्यापक मानते है उनके लिये यह कहा गया कि जब ज्ञान विषयकी अपेक्षा सर्वव्यापक है । तब ज्ञानका धनी आत्मा भी विषयकी अपेक्षा सर्वव्यापक है। परन्तु प्रदेशोकी अपेक्षा आत्मा असख्यात प्रदेशोसे कमती बढती नही होता—उसी प्रमाण उसका ज्ञान गुण रहता है । यद्यपि आत्मा निश्चयसे अस-ख्यात प्रदेशी है तथापि किसी भी शरीरमे रहा हुआ सकोचरूप शरीरके प्रमाण रहता है। मोक्ष अवस्थामे भी अतिम शरीरसे किंचित कम आकार रखता हुआ सदा स्थिर रहता है। इस

तरहका पुरुषाकार होने पर भी यह आत्मा ज्ञान गुण की अपेक्षा सर्वको जानता है। आत्माका यह स्वभाव जैनाचार्योंने ऐसा बताया है जो स्वरूप अनुभव किये जाने पर ठीक जचता है क्योंकि हम आप सर्व अलग २ आत्मा है, यदि भिन्न २ न होते तो एक का ज्ञान, सुख व दुःख दूसरे को हो जाता, जब एक सुखी होते सर्व सुखी होते, जब एक दुखी होते सर्व दुखी होते, सो यह बात प्रत्यक्ष मे विरोधरूप है। हरएक अलग २ मरता जीता व सुख दुख उठाता है। आत्मा भिन्न होने पर भी शरीर प्रमाण किस तरह है इसका समाधान यह है, कि यदि आत्मा शरीर प्रमाण न होकर लोक प्रमाण होता तो जैसे शरीर सम्बन्धी सुख दुख का भोग होता है वैसे शरीर से बाहर के पदार्थों मे भी सुख दुख का अनुभव होता—सो ऐसा होता नही है। अपने शरीर के भीतर ही जो कुछ दुख सुख का कारण होता है उसीही को आत्मा अनुभव करता है इससे शरीर से अधिक फैला हुआ आत्मा नहा है। यदि शरीर मे सर्व ठिकाने व्यापक आत्मा को न माने, केवल एक बिन्दुमात्र माने तो जहा वह बिन्दुमात्र होगा वही का सुख दुख मालूम पडेगा—सर्व शरीर के सर्व ठिकानो का नही—यह बात भी प्रत्यक्ष मे विरुद्ध है। यदि शरीर मे एक ही साथ पग मे मस्तक मे व पेट मे सुई भोकी जावे तो वह एक साथ तीनो दुखो को वेदन करेगा—अथवा मुख से स्वाद लेते, आखसे देखते व विषयभोग करते सर्वांग वेदन होता है, कारण यही है कि आत्मा अखड रूप मे सर्व शरीर मे व्यापक है। शरीर के किसी एक स्थान पर सुख भासने से सर्व अग प्रफुल्लित हो जाता है। शरीर मे आत्मा सकुचित अवस्था मे है उसके असख्यात प्रदेश कम व बढ नही होते। यद्यपि आत्मा और उसके ज्ञानादि अनन्त गणो का निवास आत्मा के असख्यात प्रदेश ही है

तथापि उसके गुण अपने २ कार्य मे स्वतन्त्रता से काम करते हैं, उन्हीमे ज्ञान गुण सर्व ज्ञेयो को जानता है—और जब ज्ञेय लोकालोक हैं तब ज्ञान विषयकी अपेक्षा व्यवहारमे लोकालोक प्रमाण है ऐसा यहा तात्पर्य है। ऐसी अपूर्व ज्ञान की शक्ति को पहचान कर हमारा यह कर्तव्य होना चाहिये कि इस केवलज्ञान की प्रगटता के लिये हम शुद्धोपयोगका अनुभव करें तथा उसीकी भावना करें ॥२३

णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा ।
हीणो वा अधिगो वा, णाणादो हवदि धुवमेव ॥२४॥

हीणो जदि सो आदा, तण्णाणमचेदणं ण जाणादि ।
अधिगो वा णाणादो, णाणेण विणा कहं णादि ॥२५॥

ज्ञानप्रमाणमात्मा, न भवति यस्येह तस्य स आत्मा ।
हीनो वा अधिको वा, ज्ञानादि् भवति ध्रुवमेव ॥२४॥

हीनो यदि स आत्मा, तत् ज्ञानमचेतन न जानाति ।
अधिको वा ज्ञानात्, ज्ञानेन विना कथं जानाति ॥२५॥

अर्थ.—इन दो गाथाओ मे आत्मा को और उसके ज्ञान गुण को सम प्रमाण सिद्ध किया गया है। द्रव्य और गुण का प्रदेशो की अपेक्षा एक क्षेत्रावगाह समवाय या तादात्म्य सम्बन्ध होता है। जहा २ द्रव्य वहां २ उसके गुण, जहा २ गुण, वहा २ उसके द्रव्य । वास्तव मे द्रव्य गुणो के एक समुदायको कहते है जिसमे हरएक गुण एक दूसरे मे व्यापक होता है । प्रदेशत्वनामा गुण जितने प्रदेश जिस द्रव्य के रखता है अर्थात् जो द्रव्य जितने आकाश को व्यापकर रहना है उतने ही मे सर्व गुण व्यापक रहते हैं। प्रदेशत्वगुण की अपेक्षा द्रव्य का जितना प्रमाण है उतने ही प्रमाण मे अन्य सर्व गुण उस द्रव्य से रहते हैं, क्योकि कहा है कि

'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा,' उमा० त० सू० ५।४१ कि गुण द्रव्यके आश्रय रहते हैं तथा गुणोंके गुण नहीं होते इसलिये द्रव्य और गुणोंका तादात्म्य है, द्रव्यसे गुण न छोटे होते है न बड़े, इसी तरह द्रव्य भी गुणोंसे न छोटा होता है न बड़ा। ऐसी व्यवस्था है। यहा आत्मा द्रव्य और उसके ज्ञान गुणको लेकर तर्क उठाया गया है कि यदि आत्मज्ञान गुणसे छोटा माना जायगा तो जितना ज्ञान गुण आत्मासे बडा होगा उतना ज्ञानगुण अपने आधार द्रव्यके विना रह नहीं सक्ता, कदाचित् रहेगा तो अचेतन द्रव्यके आधार रहकर चेतन द्रव्यके आधारके विना जड़रूप होकर कुछ भी जाननेके कामका न कर सकेगा। जैसे जड नहीं जानता है तैसे वह ज्ञान जड़ होता हुआ कुछ न जानेगा, सो यह बात हो नहीं सक्ती क्योंकि जो जान नहीं सक्ता है उसको ज्ञान कह ही नहीं सक्ते। जैसे यदि कहे कि अग्निसे उसका उष्ण गुण अधिक है अग्नि उससे छोटी है तव जितना उष्णगुण अग्नि विना माना जायगा वह अग्निके आधार विना एक तो रह ही नहीं सक्ता, यदि रहे तो उसको ठंडा होकर रहना होगा अर्थात् अग्निके विना उष्ण गुण जलानेकी क्रियाको न कर सकेगा सो यह बात असभव है क्योंकि जो जलावे उसे ही उष्णगुण कहसक्ते सो अग्निके आधार विना कहीं भी प्राप्त नहीं हो सक्ता क्योंकि उष्णगुणका आधार अग्नि है। वैसे ही ज्ञानगुणको जानना चाहिये। ज्ञान गुण आत्मासे वड़ा होकर निराधर शून्य व जड होजायगा सो यह बात असभव है। दूसरा पक्ष यदि यह मानाजाय कि आत्मा ज्ञानगुणसे वडा है ज्ञानगुण छोटा है तव भी नहीं वन सक्ता है क्योंकि जितना आत्मा ज्ञानगुणसे वडा माना जायगा उतना आत्मा ज्ञानगुण रहित अज्ञानमय अचेतन होजायगा और अपने जाननेके कामको न करसकनेके कारण जड पुद्गलमय होता हुआ

अपने नामको कभी नही रखसक्ता है कि मैं आत्मा हू। जैसे यदि अग्निको उष्ण गुणसे बडा माना जाय तो जितनी अग्नि उष्णता रहित होगी वह ठढी होगी तब जलानेके कामको न कर सकेगी तब वह अपने नामको ही खो बैठेगी सो यह बात असभव है वैसे आत्मा ज्ञानगुणके विना जड अवस्थामे आत्माके नामसे जीवित रह सके यह बात भी असभव है। इससे यह सिद्ध हुआ कि न आत्मा ज्ञानगुणसे छोटा है न बडा है, जितना बडा आत्मा है उतना बडा ज्ञान है, जितना ज्ञान है उतना आत्मा है। प्रदेशोकी अपेक्षा आत्मा असख्यात प्रदेशी है उतना ही बडा उसका गुण ज्ञान है। शरीर मे रहता हुआ आत्मा शरीर प्रमाण है अथवा मोक्ष अवस्थामे अतिम शरीरसे कुछ कम आकारवाला है उतना ही वडा उसका ज्ञानगुण है। जब समुद्घात करता है अर्थात् शरीर मे रहते हुए भी फैलकर शरीरके बाहर आत्माके प्रदेश जाते हैं जो अन्य छ समुद्घातोमे थोडी २ दूर जाते है परन्तु केवल समुद्घातोमे लोकव्यापी होजाते है और फिर शरीर प्रमाण हो जाते हैं तब भी जैसा आत्मा फैलता सकुडता है वैसे ही उसके ज्ञानादि गुण रहते हैं। चद्रमा जैसे अपनी प्रभा सहित ही छोटा या वडा होता है वैसे आत्मा अपने ज्ञानादि गुण सहित छोटा या वडा होता है। प्रयोजन यह है कि आत्मा ज्ञानगुणके प्रमाण है ज्ञानगुण आत्माके प्रमाण है। आत्माका और ज्ञानगुणका तादात्म्य सम्बन्ध है। जो कोई आत्माको सर्व व्यापक या बहुत छोटा मानते है उसका निराकरण पहले ही किया जा चुका है। यहा उसीका पुष्टिकरण है कि जब हम अपने शरीरमे सर्व स्थानोपर ज्ञानका काम कर सक्ते है तब हमारा आत्मा शरीर प्रमाण सिद्ध हो गया। जैसे प्रदेशोकी अपेक्षा ज्ञानगुण और आत्माकी समानता है वैसे विषयकी अपेक्षा भी समानता कह सक्ते हैं, जैसे

ज्ञान गुण लोकालोकको जानता हुआ लोकालोक प्रमाण सर्वव्यापक कहलाता है वैसे ही आत्माको भी लोकालोक ज्ञायक या सर्वज्ञ कह सक्ते हैं। यहा यही दिखलाया है कि द्रव्य और गुणकी प्रमाणकी अपेक्षा समानता है। यहा यह भी खुलासा समझ लेना कि जो लोग आत्माको प्रदेशोकी अपेक्षा सर्वव्यापक मानते हैं उनका निराकरण करके यह कहा गया है कि सबके जाननेकी अपेक्षा तो सर्वव्यापक कह सक्ते हैं, परन्तु प्रदेशोकी अपेक्षा नहीं कह सक्ते। यहा यह तात्पर्य है कि जिस केवलज्ञानके बराबर आत्मा है वह केवलज्ञान ही सर्वको जानता हुआ आकुलतारहित होता है जिसकी प्राप्ति शुद्धोपयोगकी भावनासे होती है अतएव सर्व तरहसे रुचिवान होकर इस शुद्धोपयोगमई साम्यभावकी भावना कर्तव्य है।

सव्वगदो जिणवसहो, सव्वेवि य तग्गया जगदि अट्ठा।
णाणमयादो य जिणो, विसयादो तस्स ते भणिदा॥

सर्वगतो जिनवृषभ सर्वेऽपि च तद्गता जगत्यर्था।
ज्ञानमयत्वाच्च जिनो विषयत्वात्तस्य ते भणिता॥ २६॥

अर्थ—इस गाथामे आचार्यने यह बताया है कि आत्माको सर्वगत या सर्वव्यापक किस अपेक्षामे कहा जासक्ता है। जिसतरह दूसरे कोई मानते हैं कि आत्मा अपनी सत्तासे प्रदेशोकी अपेक्षा सर्वव्यापक है उसतरह तो सर्वव्यापक नही होसक्ता। प्रदेशोकी अपेक्षा तो समुद्घातकके सिवाय शरीरके आकारके प्रमाण आत्माका आकार रहता है और उस आत्माके आकार ही आत्माके भीतर सर्व प्रदेशोमे व्यापक ज्ञान आदि गुण पाए जाते है। परन्तु जैसे पहले ज्ञानको सर्वलोक अलोकके जाननेकी अपेक्षा व्यवहारसे सर्वव्यापक कहा है। तैसे ही यहा व्यव-

हारमे आत्माको सर्वव्यापक कहा है । यद्यपि हरएक आत्मामे सर्वज्ञपने की शक्ति है तथापि यहा व्यक्ति अपेक्षा केवलज्ञानी अरहत और सिद्ध परमात्माको ही लक्ष्यमे लेकर उनको सर्वगत या सर्वव्यापक इसलिये कहा गया है कि उनका आत्मा ज्ञानसे तन्मय है। जव ज्ञान सर्वगत है तव ज्ञानी आत्माको भी सर्वव्यापक कहसक्ते हैं। जैसे आत्माको सर्वगत कहसक्ते है वैसे यह भी कहसक्ते है कि सर्वज्ञेय पदार्थ मानो भगवानकी आत्मामे समागए या प्रवेश होगए। क्योकि केवलीके ज्ञानमे सर्व ज्ञेयोके आकार ज्ञानाकार होगए है। यद्यपि ज्ञेय पदार्थ भिन्न २ है तथापि उनके ज्ञानाकारोका ज्ञानमे झलकना पदार्थोका झलकना है। ज्ञानमे जैसे प्राप्त हैं वैसे आत्मामे प्राप्त है दोनो कहना विपयकी अपेक्षा समान है। जैसे दर्पणमे मोर दीखता है इसमे मोर कुछ दर्पणमे पैदा नही, मोर अलग है, दर्पण अलग हैं, तथापि मोर के आकार दर्पण की प्रभा परिणमी है, इससे व्यवहारसे यह कह सक्ते हैं कि दर्पण या दर्पण की प्रभा मोर मे व्याप्त है अथवा मोर दर्पण की प्रभा मे था दर्पण मे व्याप्त है। इसी तरह केवलज्ञानी भगवान अरहत या सिद्ध तथा उनका स्वभाविक शुद्ध ज्ञान अपने ही प्रदेशो की सत्ता मे रहते है। न वे पदार्थो के पास जाते और न पदार्थ उनके पास आते तथापि झलकने की अपेक्षा यह कह सक्ते है कि अरहत या सिद्ध भगवान या उनका ज्ञान सर्वगत या सर्व व्यापक है अथवा सर्व लोकालोक ज्ञेय रूपसे भगवान अरहत या सिद्ध मे या उनके शुद्ध ज्ञान मे व्याप्त है। यहा आचार्य ने उसी केवलज्ञान की विशेप महिमा वताई है कि वह सर्वगत होकर के भी पूर्ण निराकुल रहता है। आत्मा मे रागद्वेपका सदभाव न होने से ज्ञान या ज्ञानी आत्मा स्वभाव से सर्वको जानते हुए भी निर्विकार रहते हैं–ऐसा अनुपम

केवलज्ञान जिस शुद्धोपयोग या साम्यभावके अनुभवसे प्राप्त होता है उसही की भावना करनी चाहिये, यह तात्पर्य्य है।

णाणं अप्पत्ति मदं, वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं।
तम्हा णाणं अप्पा, णप्पा णाणं व अण्णं वा ॥२८॥

ज्ञानमात्मेति मत वर्तते ज्ञान विना नात्मानम्।
तस्मात् ज्ञानमात्मा आत्मा ज्ञान वा अन्यद्वा ॥२८॥

अर्थ —इस गाथामे आचार्यने इस वात को स्पष्ट किया है कि आत्मा केवल ज्ञान मात्र ही नही है किन्तु अनंत धर्म स्वरूप है। कोई कोई आत्मा को ज्ञान मात्र ही मानते हैं–ऐसा मानने से आत्मा द्रव्य, ज्ञान गुण ऐसा कहने की कोई जरूरत न रहेगी फिर तो मात्र एक ज्ञान को ही मानना पडेगा। तव अकेला ज्ञान गुण विना किसी आधार के कैसे ठहर सकेगा क्योकि कोई गुण द्रव्य के विना पाया नही जा सक्ता, द्रव्यका अभाव होने मे ज्ञानगुण का भी अभाव हो जायगा इससे आचार्य ने कहा है कि ज्ञान गुण तो अवश्य आत्मारूप है क्योकि ज्ञान का और आत्माका एक लक्षणात्मक सम्बन्ध है। आत्मा लक्ष्य हैं ज्ञान उसका लक्षण है। ज्ञान लक्षण मे अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, असम्भव दोष नही हैं क्योकि ज्ञान सर्व आत्माओ को छोडकर अन्य पुद्गल आदि पाच द्रव्यो मे नही पाया जाता तथा ज्ञान वर्जित कोई आत्मा नही है इसलिये ज्ञान स्वभाव रूप तो आत्मा अवश्य है परन्तु आत्मा द्रव्य हैं इससे वह अनंतगुण व पर्यायोका आधर भूत समुदाय है। आत्मा मे सामान्य व विशेष अनेक गुण या स्वभाव पाए जाते वे—हरएक गुण या स्वभाव आत्मा मे व्यापक है तव जैसे एक आम्रके फल को वर्ण के व्यापने की अपेक्षा हरा, रसके व्यापने की अपेक्षा मीठा, गंध के व्यापने की अपेक्षा सुगंधित, स्पर्श के व्यापने की अपेक्षा नर्म कह

सक्ते हैं वैसे ही आत्मा को अस्तित्त्व गुण की अपेक्षा सतरूप द्रव्य-त्वगुण की अपेक्षा त्वगुण प्रदेशत्त्व गुण की अपेक्षा प्रदेश रूप आकारवान नित्य की अपेक्षा नित्य, अनित्यत्व स्वभाव की अपेक्षा अनित्य की अपेक्षा गुणकी अपेक्षा सम्यक्ती, चारित्र गुण की अपेक्षा चारित्रवान, वीय गुण की अपेक्षा वीर्यवान सुख गुण की अपेक्षा परम सुख इत्यादि रूप कह सक्ते हैं—आत्मा अनत धर्मात्मक है तव ही उसको द्रव्य की सज्ञा है—गुणो के समुदायको ही द्रव्य कहते हैं। जो अनेक गुणो का अखड पिंड होता है उसे ही द्रव्य कहते हैं उसमे जव जिस गुण की मुख्यता से कहे तव उसको उसी गुण रूप कह सक्ते हैं ऐसा कहने पर भी अन्य गुणो की सत्ताका उसमे से अभाव नहीं होजाता। जैसे एक पुरुषमे पितापन पुत्र की अपेक्षा, पुत्रपना पिताकी अपेक्षा, भानजापना मामाकी अपेक्षा, भतीजापना चाचाकी अपेक्षा, भाईपना भाईकी अपेक्षा इस तरह अनेक सम्वन्ध एक ही समय मे पाए जाते है परन्तु जव पिता कहेगे तव अन्य सम्वन्ध गौण हो जावेंगे तथापि उसमें से सम्वन्ध चले नही गए—यह हमारी शक्ति का अभाव है कि हम एक ही काल अनेक सम्वन्धोको कह नही सक्ते इसी तरह आत्मा अनत धर्मात्मक है। जव जिस धर्मकी मुख्यतासे कहा जाय तव उस धर्मरूप आत्मा को कह सक्ते हैं। अन्य गुणो की अपेक्षा ज्ञान गुण प्रधान है क्योकि इसही के द्वारा अन्य गुणोका व स्वभावो का वोध होता है इसलिये ज्ञान रूप आत्मा को यत्रतत्र कहा है, परन्तु ऐसा कहने का मतलव यह न निकालना कि आत्मा मात्र ज्ञान रूप ही है किन्तु यही समझना कि ज्ञान रूप कहने मे ज्ञान की मुख्यता ली गई है। ऐसा वस्तु का स्वरूप है—जो इसको समझना है वही अरहत और सिद्ध भगवान को तथा अपने तथा परके आत्मा को पहचान सक्ता है।

यह जानते हुए कि केवलज्ञानकी व्यक्ततामें परमानदमई अनत सुखी यह आत्मा हो जाता है हमको जिम तरह बने केवल-ज्ञानके कारणभूत शुद्धोपयोग या साम्यभावका ही मनन करना चाहिये ।

इस तरह आत्मा और ज्ञानकी एकता तथा ज्ञानके व्यव-हारसे सर्वव्यापकपना है इत्यादि कथन करते हुए दूसरे स्थलमें पाच गाथाए पूर्ण हुई ।

णाणी णाणसहावो, अत्था णेयप्पगा हि णाणिस्स ।
रूवाणि व चक्खूणं, णेवण्णोण्णेसु वट्टंति ॥ २८ ॥

ज्ञानी ज्ञानस्वभावोऽर्था ज्ञेयात्मका हि ज्ञानिन ॥
रूपाणीव चक्षुषो नैवान्योन्येषु वर्तन्ते ॥ २८ ॥

अर्थ —इस गाथामे आचार्यने बताया है कि सर्वव्यापक या सर्वगत जो पहले आत्माको या उसके ज्ञानको कहा है उसका अभिप्राय यह न लेना चाहिये कि अपने २ प्रदेशोंकी अपेक्षा एक द्रव्य दूसरोमे प्रवेश करजाते हैं। किन्तु ऐसा भाव लेना चाहिये कि ज्ञानीका ज्ञान तो आत्माके प्रदेशोंमे रहता है। तब आत्मा जैसा आकार रखता है, उस ही आकारके प्रमाण आत्माका ज्ञान रहता है ? केवलज्ञानी अरहनका आत्मा अपने शरीर मात्र आकार रखता है तथा सिद्ध भगवानका आत्मा अतिम शरीरके किंचित ऊन अपना आकार रखता है। इसी आकारमे ज्ञान भी रहता है, क्योकि ज्ञान गुण है, आत्मा द्रव्य है। द्रव्य और गुणमे सदृश प्रदेशी तादात्म्य सम्बन्ध है। ऐसा निश्चयसे ज्ञान और आत्माका सम्बन्ध है। तौ भी ज्ञान अपने कार्यके करनेमे स्वाधीन है। ज्ञानका काम सर्व तीन कालकी सर्व लोकालोकवर्ती पदार्थोंकी सर्व पर्यायोको एक साथ जानना है। इस ज्ञानपनेके

कामको करता हुआ यह आत्मा तथा उसका ज्ञान अपने नियत स्थानको छोडकर नही जाते हैं। और न ज्ञेयरूपमे ज्ञानमे झलकनेवाले पदार्थ अपने २ स्थानको त्यागकर ज्ञानमे या आत्मामे आजाते हैं। कोई भी अपने २ क्षेत्रको छोडता नही तथापि जैसे आखे अपने मुखमे नियत स्थान पर रहती हुई भी और सामनेके रूपी पदार्थोमे न जाती हुई भी रूपी पदार्थोका प्रवेश आखोमे न होते हुए भी सामनेके रूपी पदार्थोको देख लेती है ऐसा परस्पर ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध है कि पदार्थोके आकारोमे आखोके भीतर झलकनेकी और आखोके भीतर उनके आकारोको ग्रहण करने की सामर्थ्य है वैसे ही आत्माका ज्ञान अपने नियत आत्माके प्रदेशोमे रहता है तथा सर्व ज्ञेयरूप पदार्थ अपने २ क्षेत्रमे रहते हैं कोई एक दूसरेमे आते जाते नही तथा इनका ऐसा कोई अपूर्व ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध है जिसमे सर्वज्ञेय पदार्थ तो अपने २ आकारोको केवलज्ञानमे झलकानेको समर्थ है और केवलज्ञान उनके सर्व आकारोको जाननेमे समर्थ है। दर्पणका भी दृष्टात ले सक्ते हैं—एक दर्पणमे एक सभाके विचित्र वस्त्रालकृत हजारो मनुष्य दिखलाई पड रहे हैं। दर्पण अपने स्थान भीतपर स्थित है। सभाके लोग सभाके कमरेमे अपने अपने आसनपर विराजमान हैं न दर्पण उनके पास जाता है न वे सभाके लोग दर्पणमे प्रवेश करते तथापि परस्पर ऐसी शक्ति रखते हैं कि पदार्थ अपने आकार दर्पणको अर्पण करते है और दर्पण उनको ग्रहण करता है ऐसा ही ज्ञानका और ज्ञेयका सम्बन्ध जानना चाहिये।

इस वातके स्पष्ट करनेसे आचार्यने आत्माकी सत्ताकी भिन्नता वताकर उसकी केवलज्ञानकी शक्तिकी महिमा प्रतिपादन की है और यह वतलाया है कि जैसे आख अग्निको देखकर जलती नही, समुद्रको देखकर डूवती नही, दु खीको देखकर दु खी व

सुखो को देखकर सुखी होती नही ऐसी ही केवलज्ञानकी महिमा है–सर्व शुभ अशुभ पदार्थ और उनकी अनेक दु खित व सुखित अवस्थाको जानने हुए भी केवलज्ञानमे कोई विकार रागद्वेप मोहका नही होता है वह सदा ही निराकुल रहता है। ऐसे केवलज्ञान के प्रभुत्वको जानकर हमारा कर्तव्य है कि उस शक्ति की प्रगटताके लिये हम शुद्धोपयोगको भावना करे यही तात्पर्य्य है।

ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू ।
जाणदि पस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेसं ॥२६॥

न प्रविष्टो नाविष्टो ज्ञानी ज्ञेयेषु रूपमिव चक्षु ।
जानाति पश्यति नियतमक्षातीतो जगदशेषम् ॥२६॥

अर्थ —इस गाथामे आचार्यने और भी स्पष्ट कर दिया है कि आत्मा और इसका केवलज्ञान अपूर्व शक्ति को रखनेवाले हैं। ज्ञानगुण ज्ञानी गुणीमे अलग कही नही रह सक्ता है। इसलिये ज्ञान गुणके द्वारा आत्मा सर्व जगत को देखता जानता है। ऐसा वस्तुका स्वभाव है कि ज्ञान आपै आप तीन जगत के पदार्थोंके तीन कालवर्ती अवस्थाओको एक ही समयमे जानने को समर्थ है जैसे दर्पण इस वातकी आकाक्षा नही करता है कि मैं पदार्थोंको झलकाऊ परन्तु दर्पण की चमक का ऐसा ही कोई स्वभाव है जिसमे उसके विषय मे आ सकनेवाले सर्व पदार्थ आपे आप उसमे झलकते हैं–वैसे निर्मल केवलज्ञानमे सर्व ज्ञेय स्वय ही झलकते हैं। जैसे दर्पण अपने स्थानपर रहता और पदार्थ अपने स्थान पर रहते तौ भी दर्पण मे प्रवेश हो गए या दर्पण उनमे प्रवेश होगया ऐसा झलकता है तैसे आत्मा और उसका केवलज्ञान अपने स्थानपर रहते और ज्ञेय पदार्थ अपने स्थानपर रहते कोई किसीमे प्रवेश नही करता तौ भी ज्ञेय ज्ञायक सम्वन्ध से जव सर्व ज्ञेय ज्ञान मे झलकते हैं तव

ऐसा मालुम होता है कि मानो आत्मा के ज्ञान मे सर्व विश्व समा गया या आत्मा सर्व विश्व मे व्यापक होगया निश्चयसे ज्ञाता ज्ञेयोसे प्रवेश नही करता यही असली बात हैं। तौभी व्यवहारसे ऐसा कहनेमे आता है कि आत्मा ज्ञेयोमे प्रवेश कर गया। गाथामे आखका दृष्टात है। वहा भी ऐसा ही भाव लगा लेना चाहिये। आख शरीरसे कही न जाकर सामनेके पदार्थोको देखती है। असल बात यही है—इसी बातको व्यवहारमे हम इस तरह कहते हैं कि मानो आख पदार्थोमे घस गई व पदार्थ आखमे घुस गये। ज्ञानकी ऐसी अपूर्व महिमा जानकर हम लोगोका कर्तव्य है कि उस ज्ञान शक्तिको प्रफुल्लित करनेका उपाय करे। उपाय निजात्मानुभव या शुद्धोपयोग है। इसलिये हमको निरतर भेद विज्ञानके द्वारा शुद्ध आत्माके अनुभवकी भावना करनी चाहिये और क्षणिक सकल्प विकल्पोसे पराङ्मुख रहना चाहिये जिससे जगत मात्रको एक समयमे देखने जाननेको समर्थ जो केवलज्ञान और केवल दर्शन सो प्रगट हो जावें।

रयणमिह इंदणीलं, दुद्धज्झसियं जहा सभासाए।
अंभिभूय तंपि दुद्धं, वट्टदि तह णाणमत्थेसु ॥ ३० ॥

रत्नमिहेन्द्रनील दुग्धाध्युषित यथा स्वभासा ।
अभिभूय तदपि दुग्ध वर्तते तथा ज्ञानमर्थेषु ॥३०॥

अर्थ :—इस गाथामे आचार्यने ज्ञानकी महिमाको और भी दृढ किया है। और इन्द्रनीलमणिका दृष्टात देकर यह बताया है कि जैसे प्रवान नीलरत्नको यदि सफेद दूधमे डाल दिया जाय तो वह नीलरत्न अपने आकार रूप दूधके भीतर पडा हुआ तथा दूधके आकार निश्चयसे न होता हुआ भी अपनी प्रभासे सर्व दूधमे व्याप्त होजाता है अर्थात् दूधका सफेद

रग छिप जाता है और उस दूधका नीला रग होजाता है तब व्यवहार से ऐसा कहते है कि नीलरत्न ने सारे दूध को वर लिया अथवा दूध नीलरत्न मे समा गया तैसे ही आत्माका पूर्ण केवलज्ञान निश्चयमे आत्माके आकार रहता हुआ आत्माको छोडकर कही न जाता हुआ तथा न अन्य ज्ञेय पदार्थो-को अपनेमे निश्चयसे प्रवेश करता हुआ अपनी अपूर्व ज्ञानकी सामर्थ्यसे सर्व ज्ञेय पदार्थोको एक समयमे एक साथ जान लेता है। ज्ञानका ऐसा महत्त्म्य है कि आपको भी जानता है और परको भी जानता है। आप पर दोनो ज्ञेय है तथा ज्ञायक आप है। तव व्यवहार से ऐसा कहे कि आत्माका ज्ञान सर्व जगतमे प्रवेश कर गया व सर्व जगतके पदार्थ ज्ञानमे प्रवेश कर गए तो कुछ दोष नही है।

ज्ञानमे सर्व ज्ञेय पदाथोका प्रतिविम्व पडता हैं जो ज्ञानाकार पदार्थोका ज्ञानमे होता है उनके निमित्त कारण वाहरी पदार्थ हैं। इसलिये उपचारसे उन ज्ञानाकारोको पदार्थ कहते हैं। ज्ञान अपने ज्ञानाकारोको जानता हैं इसीको कहते है कि ज्ञान पदार्थोको जानता है। ज्ञानमे ज्ञानाकारोका भेद करके कहना ही व्यवहार है निश्चयसे ज्ञान आप अपने स्वभावमे ज्ञायकरूपसे विराजमान है– ज्ञेय ज्ञायकका व्यवहार करना भी व्यवहारनयसे है।यहा यह तात्पर्य्य है कि ऐसा केवलज्ञान इस ससारी आत्माको निश्चय रत्नत्रयमई परम सामायिक सयमरूप स्वात्मानुभवमई शुद्धोप-योगके द्वारा प्राप्त होता है इसलिये हरतरहका पुरुपार्थ करके इस साम्यभावरूप शुद्धोपयोगका अभ्यास करना योग्य है। यही परम सामायिकरूप शातभाव है इस ही भावके द्वारा यह आत्मा यहा भी आनन्द भोगता है और शुद्धि पाता हुआ सर्वज्ञ हो अनन्त सुखी हो जाता है।

जदि ते ण सन्ति अत्था, णाणे णाणं ण होदि सव्वगयं ।
सव्वगयं वा णाणं, कहं ण णाणट्ठिया अत्था ॥ ३१ ॥

यदि ते न सन्त्यार्था ज्ञाने, ज्ञान न भवति सर्वगतम् ।
सर्वगत वा ज्ञान कथ न ज्ञानस्थिता अर्था ॥ ३१ ॥

अर्थ :—इस गाथामे आचार्यने ज्ञानके सर्वव्यापकपनेको और भी साफ किया है और केवलज्ञानकी महिमा दर्शाई है। ज्ञान यद्यपि आत्माका गुण है और उन ही प्रदेशोमे निश्चयसे ठहरना है जिनमे आत्मा व्यापक है व जो आत्माके निज प्रदेश है तथापि ज्ञानमे ऐसी स्वच्छता है कि यस जैसे दर्पणकी स्वच्छतामे दर्पणके विषयभूत पदार्थ दर्पणमे साफ साफ झलकते हैं इसीसे दर्पणको आदर्श व पदार्थोका भलकानेवाला कहते हैं वैसे सम्पूर्ण जगतके पदार्थ अपने तीन कालवर्ती पर्यायोके साथमे ज्ञानमे एक साथ प्रतिबिम्बत होते हैं इसीसे ज्ञानको सर्वगत या सर्वव्यापी कहते हैं। जिसतरह ज्ञानको सर्वगत कहते है उसी तरह यह भी कहसक्ते हैं कि सर्वपदार्थ भी ज्ञानमे झलकते हैं अर्थात् सर्वपदार्थ ज्ञानमे समागए। निश्चय नयसे न ज्ञान आत्माके प्रदेशोको छोड़कर ज्ञेय पदार्थोके पास जाता है और न ज्ञेय पदार्थ अपने २ प्रदेशोको छोडकर ज्ञानमे आते हैं कोई किसीमे जाता आता नही तथापि व्यवहार नयसे जब ज्ञानज्ञेयका ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है तब यह कहना कुछ दोषयुक्त नही है कि जब सर्व ज्ञेयोके आकार ज्ञानमे प्रतिबिम्बित होते हैं तब जैसे ज्ञानज्ञेयोमे फैलनेके कारण सर्वगत या सर्वव्यापक है वैसे पदार्थ भी ज्ञानमे प्राप्त, गत या व्याप्त हैं। दोनोका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। ज्ञान और ज्ञेय दोनोकी सत्ता होनेपर यह स्वतः सिद्ध है कि ज्ञान उनके आकारोको ग्रहण करता है और ज्ञेय अपने आकारोको ज्ञानको देते

हैं । तथा पदार्थ ज्ञानमे तिष्ठते हैं ऐसा कहना किसी भी तरह अनुचित नही है । यहा यह भी दिखलानेका मतलब है कि जगतमे एक ही द्रव्य नही है किन्तु जगत अनत द्रव्योंका समुदाय है जिनमे अनन्त ही आत्मा हैं और अनन्त ही अनात्मा है । ज्ञानकी शक्ति आत्मामे ही है ज्ञानका स्वभाव दीपकके समान स्वपर प्रकाशक है ज्ञान अपनेको भी जानता है और परको भी जानता है । यदि स्वपरको न जाने तो ज्ञानका ज्ञानपना ही नही रहे । इसलिये निमल ज्ञान अपने आधार भूत आत्माके तथा अपने ही साथ रहनेवाले अन्य अनन्त गुणोको व उनकी अनन्त पर्यायोको तथा अन्य आत्माओको और उनके गुण पर्यायोको तथा अनतगुण पर्याय सहित अनत अनात्माओको एक साथ जानता है अर्थात् उनके सर्व आकार या विशेष ज्ञानमे पृथक २ झलकते है तव ऐसा कहना कुछ भी अनुचित नही है कि ज्ञान ज्ञेयोमे फैल गया, चला गया या व्याप गया तथा ज्ञेत ज्ञानमे फैल गये, चले गये या व्याप गये । जुदी २ सत्ताको रखते हुए व परस्पर ज्ञेय ज्ञायक सम्वन्धसे केवलज्ञानमे सर्व पर्याय तिष्ठते है ऐसा कहनेका व्यवहार है । तात्पर्य यह है कि केवल ज्ञानकी ऐसी अपूर्व शक्ति है कि आप अन्य पदार्थ रूप न होता हुआ भी सर्वक जैसाका तैसा जानता है उनके शुभ अशुभ हीन उच्च परिणमनमे रागद्वेष नही करता है दर्पणके सामने वीतरागी रहता है तथा कोई वात ज्ञानसे वाहरकी नही रह जाती है इसीसे जैसे रागद्वेष जनित आकुलता नही है वैसे अज्ञान जनित आकुलता नही है । इसी कारणसे केवलज्ञान उपादेय है–ग्रहण करने अथवा प्रगट करने योग्य है अतएव सर्व प्रपच छोड शात चित्त हो केवलज्ञानके कारणभूत स्वसवेदनमयी शुद्धोपयोगकी भावना निरतर करनी योग्य है । यही भावना मुमुक्षु आत्मार्थी जीवके

यहा भी आनन्द प्रदान करती है और भविष्यमे भी अनत सुखकी प्रकटताकी कारण है ।

गेण्हदि णेव ण मुंचदि, ण परं परिणमदि केवली भगवं ।
पेच्छदि समंतदो सो, जाणदि सव्वं णिरवसेसं ।। ३२ ।।

गृह्णाति नैव न मुंचति न परं परिणमति केवली भगवान् ।
पश्यति समन्ततः स जानाति सर्वं निरवशेषं ।। ३२ ।।

अर्थ—इस गाथामे आचार्यने आत्माकी तथा उसके ज्ञानकी महिमाको और भी साफ कर दिया है तथा यह समझा दिया है कि कही कोई आत्माके ज्ञानको सर्व व्यापक और ज्ञेयोका ज्ञानमे प्रवेश सुन कर यह न समझ बैठे कि ज्ञान आत्मासे बाहर अनात्मामे चला गया ज्ञेय पदार्थ अपने क्षेत्रको त्याग आत्मामे प्रवेश कर गये । केवली भगवान परम वीतरागी निज स्वभावमे रमणकर्त्ता स्वोन्मुखी तथा निजानन्दरस भोगी है । वे भगवान अपने आत्मीक स्वभावमे तिष्ठिते हुए अपने अनन्त ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि शुद्ध गुणोके भीतर विलास करते हुए अपने गुणोको कभी त्यागते नही—कभी भी गुणहीन होते नही और न काम क्रोधादि विकारो भावोको ग्रहण करते हैं, न पर वस्तुको पकडते है, न अपने स्वाभाविक परिणमनको छोडकर किसी पर द्रव्यकी अवस्थारूप परिणमन करते है वे प्रभु तो अपने आत्माके द्वारा अपने आत्मामे अपने आत्मा ही को अनुभव करते है। उसीके ज्ञानामृतका स्वाद लेते है क्योकि कहा भी है —

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्तथात्तमादेयमशेषतस्तत् ।
यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः पूर्णस्य सन्धारणमात्मनीह ।। ४३ ।।

(समयसारकलश अमृत०)

अर्थ —जब आत्मा अपनी पूर्ण शक्तिको समेटकर अपने आपमे लवलीन होजाता है तब मानो आत्माने जो कुछ त्यागने योग्य था उसको त्याग दिया और जो कुछ ग्रहण करने योग्य था उसको ग्रहण कर लिया। वास्तवमे केवलज्ञानी आत्मा अपने स्वरूपमे उसी तरह निश्चल हैं जैसे निर्मल स्फटिक मणि अपने स्वभावमे निश्चल है। केवलज्ञानी भगवानके कोई इच्छा या विकल्प नही पैदा होता है कि हम किसी वस्तुको ग्रहण करें या छोड़ें या किसी रूप परिणमन करें या हम किसी वस्तुको देखें जानें। जैसे दीपककी शिखा पवन सचार रहित दशामे निश्चलरूपसे विना किसी विकारके प्रकाशमान रहती है यह नही विकल्प करती है कि मैं किसीको प्रकाश करू, न अपने क्षत्रको छोडकर कहीं जाती है तथापि अपने स्वभावसे ही घट पट आदि पदार्थोंको व शुभ अशुभ रूपोंको जैसे वे हैं तैसे विना अपनेमे कोई विकार पैदा किये प्रकाश करती है, तैसे केवलदर्शन और केवलज्ञान ज्योति परम निश्चलतासे आत्मामे झलकती रहती हैं। उनमे कोई रागद्वेष मोह सम्बन्धी विकार या कोई चाहना या कोई सकल्प विकल्प नही उत्पन्न होता है क्योकि विकारके कारण मोहनीय कर्मका सर्वथा क्षय होगया है वह ज्ञानदर्शन ज्योति अपने आत्माके प्रदेशोको छोडकर कही जाती नही न परद्रव्यको पकड़ती है न उन रूप आप होती है। इस तरह परद्रव्योसे अपनी सत्ताको भिन्न रखती हैं। वास्तवमे हरएक द्रव्य अपने गुणोके साथ एक रूप है परन्तु अन्य द्रव्य तथा उसके गुणोके साथ एक रूप नहीं है, भिन्न है। एकका द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव एक उसीमे है परका द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव उसका उस हीमे है। यदि एकका चतुष्टय दूसरेमें चला जाय तो भिन्न २ द्रव्यकी सत्ताका ही लोप होजाय, सो इस जगतमे कभी होता नही। हरएक द्रव्य अनादि अनंत

है और अपनी सत्ताको कभी त्यागता नही, परसत्ताको ग्रहण करता है, न परसत्ता रूप आप परिणमन करता है। यही वस्तुका स्वभाव वस्तुमे एक ही काल अस्तित्व और नास्तित्व स्वभावको सिद्ध करता है, वस्तु अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावसे अस्ति स्वभावहै तथा परके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नास्तिस्वरूप है अर्थात् वस्तुमे अपना वस्तुपना तो है परन्तु परका वस्तुपना नही है। इस तरह आत्मा पदार्थ और उसके ज्ञानादि गुण अपने ही प्रदेशोमे सदा निश्चल रहते हैं। निश्चयसे केवलज्ञानी भगवान आप स्वभाव ही-का भोग करते है, आप सुखगुणका स्वाद लेते है, उनको पर द्रव्योके देखने जाननेकी कोई अभिलापा नही होती है तथापि उनके दर्शन ज्ञान की ऐसी अपूर्व शक्ति है कि सम्पूर्ण ज्ञय पदार्थ अपनी अनत पर्यायोके साथ उस ज्ञानदर्शनमे प्रतिविंवत होते है इसीसे व्यवहारमे ऐसा कहते हैं कि केवलज्ञानी सवको पूर्णपने देखते जानते हैं।

श्री समयसागरजीमे भी आचार्यने ऐमा ही स्वरूप वताया है —

ण वि परिणमइ ण गिण्हइ उप्पज्जई ण प दव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो विहु पुग्गलकम्म अणेयविह ॥

अर्थात् ज्ञानी आत्मा अनेक प्रकार पुग्दल कर्मको जानता हुआ भी पुग्दल कर्मरूप न परिणमता है न उसे ग्रहण करता है और न उस पुग्दलकर्मकी अवस्थारूप आप उपलता है।

ज्ञानी आत्मा सर्व ज्ञेयोको जानते हैं तथापि अपने आत्मीक स्वभावमे रहते हैं ऐसी आत्माकी अपूर्व शक्ति जानकर हमको उचित है कि शुद्ध केवलज्ञानकी प्राप्तिके लिये शुद्धोपयोगकी भावना करे। यही भावना परम हितकारिणी तथा सुख प्रदान

करनेवाली है । इसतरह ज्ञान ज्ञेयरूपसे नही परिणमन करता है, इत्यादि व्याख्यान करते हुए तीसरे स्थलमे पाच गाथाए पूर्ण हुई ।

जो हि सुदेण विजाणदि, अप्पाणं जाणगं सहावेण ।
तं सुयकेवलिमिसिणो, भणंति लोगप्पदीवयरा ॥३३॥

यो हि श्रुतेन विजानात्यात्मान ज्ञायक स्वभावेन ।
तू श्रुतकेवलिनसृषयो भणति लोकप्रदीपकरा ॥३३॥

अर्थ—इस गाथामे आचार्यने बताया है कि यद्यपि केवलज्ञान आत्माका स्वाभाविक ज्ञान है और सर्व स्वपर ज्ञेयोको एक काल जाननेवाला है इसलिये आत्माको प्रत्यक्षपने जाननेवाला है तथापि उस केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारण जो शुद्धोपयोग या साम्यभाव है उस उपयोगमे जो निज आत्मानुभव भावश्रुतज्ञानमई होता है वह भी निज आत्माको जाननेवाला है। आत्माका ज्ञान जैसा केवलज्ञानको है वैसा स्वसवेदनमई श्रुतज्ञानको हैं अतर केवल इतना ही है कि केवलज्ञान प्रत्यक्ष है, निरावरणरूप है और क्षायिक है जब कि श्रुतज्ञान परोक्ष है, मनकी सहायतामे प्रवर्तता है, एक देश निरावरण अर्थात् क्षयोपशम रूप है । केवलज्ञान सूर्यके समान है, श्रुतज्ञान दीपकके समान है । सूर्य स्वाधीनतासे प्रकाशमान है । दीपक तैलकी सहायतासे प्रकाश होता है । यद्यपि एक स्वाधीन दूसरा पराधीन है तथापि जैसे सूर्य घट पट आदि पदार्थोंको घट पट आदि रूप दर्शाता है वैसे दीपक घटपट आदि पदार्थोंको घटपट आदि रूप दर्शाता है अतर इतना ही है कि सूर्यके प्रकाशमे पदार्थ पूर्ण स्पष्ट तथा दीपकके प्रकाशमे अपूर्ण अस्पष्ट दीखता है । श्रुतज्ञान द्वादशाग रूप जिनवाणीसे आत्मा और अनात्माके भेद प्रभेदोको इतनी अच्छी तरह जान लेता है कि आत्मा बिलकुल अनात्मासे भिन्न झलकता

है। द्रव्य श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माका स्वरूप लक्ष्यमे लेकर बार बार विचार किया जाता है और यह भावना की जाती है कि जैसा आत्माका स्वभाव है वैसा ही मेरा स्वभाव है। ऐसी भावनाके दृढ सस्कारके बलसे ज्ञानोपयोग स्वय इस आत्म स्वभावके श्रद्धा भावमे स्थिति प्राप्त करता है। जब स्थिति होती है तब स्वानुभव जागृत होता है। उस समय जो आत्माका दर्शन व उसके सुखका वेदन होता है वह अपनी जातिमे केवलज्ञानीके स्वानुभवके समान है। इसलिये श्रुतज्ञानीके स्वानुभवको भाव श्रुतज्ञान तथा केवलज्ञानीके स्वानुभवको भाव केवलज्ञान कहते हैं। यह भाव केवलज्ञान जब सर्वथा निरावरण और प्रत्यक्ष है तब यह भाव श्रुतज्ञान क्षयोपशम रूप स्वसवेदन प्रत्यक्ष है। भावनाके दृढ अभ्यासके बलसे आत्माकी ज्ञानज्योति स्फुरायमान होजाती है। श्री समाधिशतकमे श्री पूज्यपादस्वामीने कहा है —

> साहामत्यात्तसस्कारस्तस्मिन् भावनया पुन‌‌।
> तत्रैव दृढसस्कारात्लभते ह्यात्मनि स्थितिम् ॥२८॥

अर्थ —वह शुद्ध आत्मा मैं हू ऐसा सस्कार होनेसे तथा उसीकी भावनासे व उसीमे दृढ सस्कार होनेसे आत्मा अपने आत्मामे ठहर जाता है।

श्री समयसार कलशमे श्री अमृतचन्द्र आचार्य कहते है —

> यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन,
> ध्रुवमुपलभमान शुध्दमात्मानमास्ते।
> तदयमुदयदात्मारामात्मानमात्मा
> पर परिणतिरोधाच्छुध्दमेवाभ्युपैति ॥३-६॥

अर्थ —यह है कि जिस तरहसे हो उस तरह लगातार आत्माके ज्ञानकी भावनासे शुद्ध आत्माको निश्चयसे प्राप्त करता

हुआ तिष्ठता है तब यह आत्मा अपने आत्माके उपवनमे रमते हुए प्रकाशमान आत्माको परमे परिणतिके रुक जानेसे शुद्ध रूपने ही प्राप्त करलेता है।

भाव श्रुतज्ञान ही केवलज्ञानका कारण है। दोनोमे आत्माका समान ज्ञान होता है। जैसे केवली विकल्परहित स्वभावसे ज्ञाता दृष्टा आत्माको देखते जानते है वैसे श्रुतज्ञानी विकल्प रहित स्वभावसे ज्ञाता दृष्टा आत्माको जानते है। यद्यपि श्रुतकेवली गणधर आदि ऋषि द्वादशागके पारगामी होते हैं तथा वे ही स्वसवेदन ज्ञानी श्रुतकेवली कहलाते है और ऐसा ही अभिप्राय टीकाकारने भी व्यक्त किया है तथापि स्वसवेदन ज्ञानद्वारा आत्माका अनुभव करनेकी अपेक्षा द्वादशागके पूर्ण ज्ञान विना अल्पज्ञानी चतुर्थ, पचम, व छठा गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि, या श्रावक या मुनि भी श्रुतकेवली उपचारसे कहे जासक्ते है क्योंकि वे भी उस ही तरह आत्माको अनुभव करते हैं जिस तरह द्वादशागके ज्ञाता श्रुतकेवली।

यहा आचार्यने भावश्रुतज्ञानको जो स्वानुभव करनेवाला है महिमायुक्त दर्शाया है क्योकि इस हीके प्रतापसे आत्माका स्वाद आता है तथा उसहीका ध्यान होता है जिसके द्वारा कर्म बधन कटते हैं और आत्मा अपने स्वाभाविक केवलज्ञानको प्राप्त करलेता है। तात्पर्य्य यह है कि हमको प्रमाद छोडकर शास्त्रज्ञानके द्वारा निज आत्माको पहचानकर व उसमे श्रृद्धान दृढ जमाकर आत्माका मनन सतत् करना चाहिये जिससे साम्यभाव प्रगटे और वीतराग विज्ञानता की शक्ति आत्माकी शक्तिको व्यक्त करती चली जावे ॥३३॥

सुत्तं जिणोवदिट्ठं, पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं ।
तज्जाणणा हि णाणं, सुत्तस्स य जाणणा भणिया ॥३४॥

सूत्र जिनोपदिष्ट पुग्दलद्रव्यात्मकैर्वचनैं ।
तज्ज्ञप्तिर्हि ज्ञान सूत्रस्य च ज्ञप्तिर्भणिता ॥३४॥

अर्थ:—इस गाथामे आचार्यने वताया है कि वास्तवमे ज्ञान ही सार गुण है जो कि इस आत्माका स्वभाव है तथा वह एक अखड सर्व ज्ञेयोको प्रकाश करनेवाला है। निश्चयसे उस ज्ञानमे भेद नही है। जैसे सूर्यका प्रकाश एकरूप है वैसे आत्माके ज्ञानका प्रकाश एकरूप है। परन्तु जैसे सूर्य्यके प्रकाशके रोकनेवाले वादल कम व अधिक होनेसे प्रकाश अनेक रूप कम व अधिक प्रगट होता है वैसे ज्ञानावरणीय कर्मका आवरण ज्ञानको रोकता है। वह कर्म जितना क्षयोपशमरूप होता है उतना ही ज्ञान प्रगट होता है। कर्मके क्षयोपशम नानारूप हैं इसीसे वह प्रगट ज्ञान भी नानारूप है। स्थूलपने उस ज्ञानकी कम व अधिक प्रगटताके कारण ज्ञानके पाच भेद कहे गए हैं—मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवल। इनमे मति और श्रुत दो ज्ञान परोक्ष है—इन्द्रिय और मनके व वाह्य पदार्थोंके आलम्बनसे प्रगट होते हैं। शास्त्रज्ञान रूप जो भावश्रुत-ज्ञान है वह भी द्रव्य श्रुतरूप द्वादशाग वाणीके आधारसे प्रगट होता है। द्वादशाग वाणी पुग्दलमई वचनरूप है तथा उसका आधार केवलज्ञानीकी दिव्यध्वनि है वह भी पुग्दलमई अनक्षरात्मक वाणी है। इस कारणसे निश्चयसे यह द्रव्यश्रुत श्रुतज्ञान नही है किन्तु द्रव्यश्रुतके द्वारा जो जानने व अनुभवनेमे आता है ऐसा भावश्रुत सो ही श्रुतज्ञान है और वह आत्माका ही स्वभाव है—अथवा आत्माके स्वभावका ही एक देश झलकाव है। इस कारण उसको एक ज्ञान ही कहना योग्य है। इस ज्ञानके श्रुतज्ञानकी उपाधि निमित्तवश है।

वास्तवमे ज्ञानके श्रुतज्ञान आदिकी उपाधि नहीं है। यही कारण है जिससे द्रव्यश्रुतको उपचारसे या व्यवहारसे श्रुतज्ञान कहा है। तथा जो द्रव्यश्रुतरूप द्वादशाग वाणी को जानता है उसको व्यवहारसे श्रुतकेवली और जो भावश्रुतरूप आत्माको जानता तथा अनुभवता है उसको निश्चयसे श्रुतकेवली कहा है। आचार्य महाराजने समयसारजीमे भी यही बात कही है–

जो हि सुदेण भिगच्छदि अप्पाणमिणंतु केवलं सुध्दं।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोकप्पदीवयरा॥
जो सुदणाण सव्व जाणदि सुदकेवली तमाहु जिणा।
सुगणाणमाद सव्वं जम्हा सुदकेवली तम्हा॥

भाव यह है कि जो श्रुतज्ञानके द्वारा अपने इस आत्माको असहाय और शुद्ध अनुभव करता है उसको जिनेन्द्रोने श्रुतकेवली कहा है यह निश्चय नयसे है तथा जो सर्व श्रुतज्ञानको जानता है उसको जिनेन्द्रोने व्यवहार नयसे श्रुतकेवली कहा है। क्योंकि सर्व श्रुतज्ञान आत्मा ही है इस लिये आत्मा ही आत्माका ज्ञाता ही श्रुतकेवली है।

आत्मा निश्चयसे शुद्धबुद्ध एक स्वभाव है उसीको कर्मकी उपाधिकी अपेक्षासे व्यवहार नयसे, नर, नारक, देव, तिर्यंच कहते है वैसे ही ज्ञान एक है उसको व्यवहारसे आवरणकी उपाधिके वशसे अनेक ज्ञान कहते हैं। प्रयोजन कहनेका यह है कि आत्माका जानपना ही भावश्रुत है और वह केवलज्ञानके समान आत्माको जाननेवाला है इसलिये सर्व विकल्प छोडकर निश्चित हो एक निज आत्माको जानकर उसीका ही अनुभव करना योग्य है। इसीसे ही साम्यभाव रूप शुद्धोपयोग प्रगट होगा जो साक्षात् केवलज्ञानका कारण है॥३४॥

जो जाणदि सो णाणं, ण हवदि णाणेण जाणगो आदा।
णाणं परिणमदि सयं अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे ॥३५॥

यो जानाति स ज्ञान न भवति ज्ञानेन - ज्ञायक आत्मा।
ज्ञान परिणमते स्वयमर्था ज्ञानस्थिता सर्वे ॥ ३६ ॥

अर्थ —यहा आचार्यने ज्ञान और आत्माकी एकताको दिखाया है तथा बताया है कि गुण और गुणी प्रदेशोकी अपेक्षासे एक है। आत्मा गुणी है ज्ञान उसका गुण है इसलिये दोनोका क्षेत्र एक है। गुण और गुणीमे सज्ञा, सख्या, लक्षण, प्रयोजनकी अपेक्षा भेद है परतु प्रदेशोकी अपेक्षा अभेद है। जैसे अग्नि द्रव्य है उष्णता उसका गुण है। इन दोनोमे कथचित् भेद व कथचित् अभेद है। अग्निकी सज्ञा जुदी है उष्णताकी जुदी है यह सज्ञा व नामभेद है। अग्निकी सख्या अनेक प्रकार होसक्ती है जैसे तिनकेकी अग्नि, लकडोकी अग्नि, कोयलेकी अग्नि परतु उष्णताकी सख्या एक है, अग्निका लक्षण दाहक वाचक प्रकाशक कहसक्ते है जव कि उष्णताका लक्षण मात्र दाह उत्पन्न करना है, अग्निका प्रयोजन अनेक प्रकारका होसक्ता है जव कि उष्णताका प्रयोजन गर्मी पहुचाना व शीत निवारण मात्र है इस तरह भेद है तो भी अग्नि और उष्णताका एक क्षेत्रावगाह सम्वन्ध है। जहा अग्नि है वहा उष्णता जरूर है इसी तरह आत्मा और ज्ञानका कथचित भेद व कथचित् अभेदरूप सम्वन्ध है। आत्मा और ज्ञानकी सज्ञा भिन्न २ है। आत्मा की सख्या अनेक है ज्ञान गुण एक है। आत्माका लक्षण उपयोगवान है। ज्ञान वह है जो मात्र जाने, आत्माका प्रयोजन स्वाधीन होकर निजानन्द भोग करना है जब कि ज्ञानका प्रयोजन अहित त्याग व हितका ग्रहण है इस तरह ज्ञान और आत्मामे भेद है तथापि प्रदेशो की अपेक्षा अभेद है।

यह आत्मा ज्ञानी अपने ज्ञान स्वभाव की अपेक्षासे है। ऐसा नही कि ज्ञान कोई भिन्न वस्तु है उसके सयोगसे आत्माको ज्ञानी कहते हैं। जैसे लकडीके सयोगसे लकडीवाला व दतीलेके सयोगसे घास काटनेवाला ऐसा सयोग सम्बन्ध जो आत्मा और ज्ञानका मानते है उसके मतमे ज्ञानके सयोग विना आत्मा जड पुद्गलवत् होजायगा तव जैसे ज्ञानके सयोगसे जड पुद्गलवत् कोई आत्मा पदार्थ ज्ञानी होजायगा वैसे घट पट आदि प्रत्यक्ष पुद्गल भी ज्ञानके सयोगसे ज्ञानी होजावेंगे, सो ऐसा जगतमे होता नही, यदि ऐसा हो तो जडमे चेतन होजाया करें और जब ज्ञानके सयोगसे जड चेतन होगा तब चेतन भी ज्ञानके वियोगसे जड होजावेगा, यह वडा भारी दोष होगा। इससे यह बात निश्चित है कि आत्मा और ज्ञानका तादात्म्य सम्बन्ध है जो कभी भी छुटनेवाला नही है। ज्ञानी आत्मा अपनी ही उपादान शक्तिसे अपने ज्ञानरूप परिणमन करता है। और उसी ज्ञान परिणतिमे अपनी निर्मलताके कारण सर्व ज्ञेय पदार्थोको जान लेता है और वे पदार्थ भी अपनी शक्तिसे ही ज्ञानमे झलकते है जिसको हम व्यवहार नयसे कहते है कि सव पदार्थ ज्ञानमे समागये।

इस तरह आत्माको ज्ञान स्वभाव मानकर हमे निर्मल केवलज्ञानमई स्वभावकी प्रगटताके लिये शुद्धोपयोगकी सदा भावना करनी चाहिये यही तात्पर्य है ॥३५॥

तम्हा णाणं जीवो, णेयं दव्वं तिधा समक्खादं।
दव्वंति पुणो आदा, परं च परिणामसंबद्धं ॥३६॥

तस्मात् ज्ञान जीवो, ज्ञेय द्रव्य त्रिधा समाख्यातम्।
द्रव्यमिति पुनरात्मा, परश्च परिणामसवद्ध ॥ ३६॥

अर्थ :—यहा आचार्य ज्ञान और ज्ञेयका भेद करते हुए बताते हैं। और इस वातका निराकरण करते है जो ज्ञान और ज्ञेयको सर्वथा एक मानते हैं। आत्मा द्रव्य है उसका मुख्य गुण ज्ञान है। उस ज्ञानसे ही आत्मा अपनेको भी जानता है और परको भी जानता है। ज्ञानकी अपेक्षा ज्ञेय और ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञान कहलाता है। यदि मात्र आत्मा ही आत्मा एक पदार्थ हो तो अन्य ज्ञेय न होनेसे आत्माका ज्ञान किसको जाने। इसलिये ज्ञानसे ज्ञेय भिन्न हैं। यद्यपि ज्ञानमे आप अपनेको भी जाननेकी शक्ति है इसलिये आत्माका ज्ञान ज्ञेय भी है परन्तु इतना ही नही है—जगतमे अनत अन्य आत्माए हैं, पुग्दल हैं, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल द्रव्य हैं ये सब एक शुद्ध स्वभावमे रमण करनेवाले आत्माके लिये ज्ञेय है। इस कथनका भाव यह है कि हरएक आत्मा स्वभावमे ज्ञाता है परन्तु जानने योग्य ज्ञेय हरएक आत्माके लिये सर्व लोक मात्रके द्रव्य हैं जिसमे आप भी स्वय शामिल है। ये सर्व ज्ञेय पदार्थ तीन प्रकारसे कहे जासक्ते हैं वह तीन प्रकारसे कथन नीचे प्रकार हो सक्ता है—

(१) द्रव्योंकी भूत, भविष्य, वर्तमान पर्यायकी अपेक्षा।

(२) उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यकी अपेक्षा।

(३) द्रव्य, गुण, पर्यायकी अपेक्षा।

हरएक द्रव्य इन तीन प्रकारसे तीन स्वभाव रूप है। इन सब छः प्रकारके ज्ञेय पदार्थोंको द्रव्य इसी कारणसे कहते हैं कि ये सब द्रव्य परिणमनशील हैं—जो द्रवण करे—परिणमन करे उसे द्रव्य कहते हैं, ऐसा द्रव्यपना लोकके सब पदार्थोंमे विद्यमान है। आत्मा स्वय ज्ञान स्वभाव रूप है वह अपनी ज्ञान शक्तिसे ही सर्व ज्ञेयोको जानता है। उस ज्ञानके परिणमनके लिये

अन्य किसी ज्ञानकी जरूरत नहीं है । जैसे दीपक स्वभावसे स्वपर प्रकाशक है ऐसे ही आत्मका ज्ञान स्वपर प्रकाशक है। द्रव्यको तीन प्रकार यदि नही माने तो द्रव्य अपनी सत्ताको नहीं रख सक्ता है। जब द्रव्य अपने नाममें ही द्रवणशील है तब उसमे समय २ अवस्थाए होनी ही चाहिये, यदि द्रव्य सतरूप नित्य न हो तो उसका परिणमन सदा चल नहीं सक्ता। इस अपेक्षासे द्रव्य अपने पर्यायोंके कारण तीन प्रकारका होजाता है। भूतकालकी पर्याये, भविष्यकालकी पर्याये तथा वर्तमानकालकी पर्याय । जब पर्याय समय २ अन्य अन्य होती है तब स्वतः सिद्ध है कि हरएक समयमे प्राचीन पर्यायका व्यय होता है और नवीन पर्यायका उत्पाद होता है जब कि पर्यायोका आधारभूत द्रव्यध्रौव्यरूप है। इस तरह द्रव्य उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप है। द्रव्य गुण पर्यायोका समुदाय है—समुदायकी अपेक्षा एक द्रव्य, वह द्रव्य अनतगुणोका समुदाय है इसमे गुणरूप, और हरएक गुणमे समय २ पर्याय हुआ करती है इससे पर्यायरूप इस तरह द्रव्य, द्रव्य गुणपर्यायरूप है। सम्पूर्ण छ द्रव्य इस तीन प्रकारके स्वभावको रखनेवाले हैं। इन सर्व द्रव्योको आत्माका ज्ञान जान लेता है। तो भी पर ज्ञेयोसे आत्मा सदा भिन्न रहता है—आपके केवलज्ञानकी अपूर्व शक्तिको जानकर हरएक धर्मार्थीका कर्त्तव्य है कि जिस साम्यभाव या शुद्धोपयोगसे निज स्वरूपका विकाश होता है उस शुद्धोपयोगकी सदा भावना करे।

इस तरह निश्चय श्रुतकेवली, व्यवहार श्रुतकेवलीके कथनकी मुख्यतासे आत्माके ज्ञान स्वभावके सिवाय भिन्न ज्ञानको निराकरण करते हुए तथा ज्ञान और ज्ञेयका स्वरूप कथन करते हुए चौथे स्थलमे चार गाथाए पूर्ण हुई ।

तक्कालिगेव सव्वे, सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं ।
वट्टंते ते णाणे, विसेसदो दव्वजादीणं ॥ ३७ ॥

तात्कालिका इव सर्वे सदसद्भूता हि पर्यायास्तासाम् ।
वर्तन्ते ते ज्ञाने विशेषतो द्रव्यजातीनाम् ॥ ३७ ॥

अर्थ :—इस गाथामे आचार्यने फिर केवलज्ञानकी अपूर्व महिमाका प्रगट किया है—द्रव्योकी पर्याये सदाकाल हुआ करती हैं। वर्तमान समय सम्बन्धी पर्यायोको सद्भूत तथा भूत और भावी पर्यायोको असद्भूत कहते हैं। केवलज्ञानमे तीन काल सम्बन्धी सर्व छ द्रव्योंकी सर्व पर्याये एक साथ अलग २ अपने सर्व भेदोके साथमे झलक जाती हैं। तथा वे ऐसी झलकती हैं मानो वे वर्तमानमे ही मौजूद हैं, इस पर दृष्टात है कि जैसे कोई चित्रकार अपने मनमे भूतकालमे होगए चौवीस तीर्थंकर व वाहुवलि, भरत व रामचन्द्र लक्ष्मण आदिकोके अनेक जीवनके दृश्य अपने मनमे वर्तमानके समान विचारकर भीतपर उनके चित्र वना देता है इस ही तरह भावी कालमे होनेवाले श्री पद्मनाभ आदि तीर्थकरो व चक्रवर्ती आदिकोंको मनमे विचारकर उनके जीवनके भी दृश्योको चित्रपर स्पष्ट लिख देता है अथवा जैसे चित्रपटको वर्तमानमे देखनेवाला उन भूत व भावी चित्रोको वर्तमानके समान प्रत्यक्ष देखता है अथवा जैसे अल्पज्ञानीके विचारमे किसी द्रव्यका विचार करते हुए उसकी भूत और भावी कुछ अवस्थाए झलक जाती हैं—दृष्टात—सुवर्णको देखकर उसकी खानमे रहनेवाली भूत अवस्था तथा ककण कुडल वननेकी भावी अवस्था मालूम हो जाती है, यदि ऐसा ज्ञान न हो तो सुवर्णका निश्चय होकर उससे आभूषण नही वन सक्ते, वैद्य रोगीकी भूत और भावी अवस्थाको विचारकर ही औषधि देता है, एक पाचिका

स्त्री अन्नकी भूत मलीन अवस्था तथा भावी भात दाल रोटीकी अवस्थाको मनमें सोचकर ही रसोई तय्यार करती है इत्यादि अनेक दृष्टांत हैं तैसे केवलज्ञानी अपने दिव्यज्ञानमें प्रत्यक्ष स्पष्ट सर्व द्रव्योकी सर्व पर्यायोको वर्तमानके समान स्पष्ट जानते है। यद्यपि केवलज्ञानी सर्वको जानत हैं तथापि उन पर ज्ञेयोको तरफ सन्मुख नही है वह मात्र अपने शुद्ध आत्म स्वभावमें ही सन्मुख है और उसीके आनदका स्वाद तन्मयी होकर ले रहे है अर्थात् निश्चयसे वे अपने आपका ही वेदन कर रहे हैं अर्थात् पूर्ण ज्ञान चेतना रूप वर्तन कर रहे हैं । इसी तरह मोक्षार्थी व साम्यभावके अभ्यासीको भी उचित है कि यद्यपि वह अपने श्रुतज्ञानके वलसे अनेक द्रव्योकी भूत और भावी पर्यायोंको वर्तमानवत् जानता है तो भी एकाग्र होकर निश्चय रत्नत्रयमई अपने शुद्ध आत्माके शुद्ध भावको तन्मयी होकर जाने तथा उसीका ही आनन्दमई स्वाद लेवे । यही स्वानुभव पूर्ण स्वानुभवका तथा पूर्ण त्रिकालवर्ती ज्ञानका बीज हैं। वर्तमान और भविष्यमें आत्माको सुखी निराकुल रखनेवाला यही निजानदके अनुभवका अभ्यास है । इसका ही प्रयत्न करना चाहिये यह तात्पर्य्य है ।

यहापर यह भी भाव समझना कि जैसे केवली भगवान प्रत्यक्ष सर्वलोक अलोकको देखते जानते हुए भी परम उदासीन तथा आत्मस्थ रहते तैसे श्रुतज्ञानी महात्मा भी श्रुतके आलम्बनसे सर्व ज्ञेयोको षट्द्रव्योका समुदाय रूप जानकर उन सबसे उदासीन होकर आत्मस्थ रहते हैं। श्रुतज्ञानीने यद्यपि अनेक विशेष नहीं जाने हैं तथापि सर्व ज्ञानकी कुजी पा ली है इससे परम सतुष्ट है—वीतरागी है ।

जे णेव हि संजाया, जे खलु णठ्ठा भवीय पज्जाया ।
ते होंति असब्भूया, पज्जाया णाणपच्चक्खा ॥३८॥

ये नैव हि सजाता ये खलु नष्टा भूत्वा पर्याया ।
ते भवति असद्भूता पर्याया ज्ञानप्रत्यक्षा. ॥३८॥

अर्थ:—यह गाथा पूर्व गाथाके कथनको स्पष्ट करती है कि जिन भूत और भावी पर्यायोको हम वर्तमान कालमे प्रगटता न होनेकी अपेक्षा अविद्यमान या असत् कहते है वे ही पर्यायें केवलज्ञानमे प्रत्यक्ष वर्तमानके समान झलक रही हैं। इसलिये उनको इस ज्ञानका विषय होनेसे विद्यमान या सत् कहते हैं। द्रव्य अपनी भूत भावो वर्तमान पर्यायोका समुदाय है-द्रव्य सत् है तो वे सर्व पर्यायें भी सत् रूप हैं। हरएक द्रव्य अपनी सभवनीय अनत पर्यायोको पीये वैठाहै, प्रत्यक्ष ज्ञानीको उसकी अनत पर्यायें इसी तरह झलक रही हैं जैसे अल्पज्ञानीको वर्तमानमे किसी पदार्थकी भूत और भावी वहुतसी पर्यायें झलक जाती हैं। एक गाढेका थान हाथमे लेते हुए ही उसकी भूत और भावी पर्यायें झलक जाती हैं कि यह गाढा तागोसे वना है, तागे रुईसे वने हैं, रुई वृक्षसे पैदा होती है, वृक्ष रुईके वीजसे होता है, ये तो भूत पर्यायें हैं तथा इस गाढेकी मिरजई, धोती, टोपी वनाएगे, तव इसको टुकडे २ करेंगे, सीएंगे, धोएगे, रक्खेंगे, पहनेंगे आदि गाढेकी कम व अधिक अपने ज्ञानके क्षयोपशमके अनुसार भूत भावी अवस्थाए एक वुद्धिमानको वर्तमानके समान मालूम हो जाती हैं, यहा विचार पूर्वक झलकती हैं वहां केवलज्ञानमे स्वय स्वभावसे झलकती हैं। हरएक कथन अपेक्षा रूप है। त्रिकालगोचर पर्यायें सव सत् हैं। विवक्षित समयकी पर्यायें विद्यमान या सत् तथा उस समय से पूर्व या उत्तर समयकी पर्यायें अविद्यमान या असत् कही जाती हैं। केवलज्ञानी जैसे मुख्यतासे निज शुद्धात्माके स्वादमे मग्न हैं वैसे ही एक आत्मानुभवके अभ्यासीको स्वरूपमे तन्मय होना चाहिये तथा अपने आत्माके सिवाय परद्रव्योको गौणतासे जानना चाहिये, अर्थात्

उनको जानते हुए भी उनमे विकल्प न करना चाहिये भाव आगम निक्षेप रूप निज आत्माको, द्रव्य आगम निक्षेप रूप परको जानना चाहिये । शुद्ध निश्चय नयका विषयभूत यह शुद्ध आत्मा परम वीतराग है और अतएव इसकी ओर सन्मुखता होनी आत्माको वीतराग और शात करके सुखी बनानेवाली है तथा पूर्व कर्मोंकी निर्जरा करनेवाली तथा अनेक कर्मोंकी संवर करनेवाली है ऐसा जानकर जिस तरह बने निज शुद्ध भावका ही मनन करना चाहिये जिससे अनुपम केवलज्ञान प्रगटे और आत्मा परमानंदी होजावे ॥ २८ ॥

जदि पच्चक्खमजादं, पज्जायं पलयिदं च णाणस्स ।
ण हवदि वा तं णाणं, दिव्वंत्ति हि के परूविति ॥३९

यदि प्रत्यक्षोऽजातः पर्याय प्रलयितश्च ज्ञानस्य ।
न भवति वा तत् ज्ञान दिव्यमिति हि के प्ररूपयन्ति ॥३९॥

अर्थ—इस गाथामे आचार्यने पिछली बातको और भी दृढ कर दिया है यदि ज्ञान गुणका स्वरूप देखें तो यही समझना होगा कि जो सर्व जानने योग्यको एक समयमे जाननेको समर्थ है वही ज्ञान है । ज्ञेय ज्ञानका विषय विषयी सम्बन्ध है । ज्ञेय विषय हैं ज्ञान उनको जाननेवाला है । जिस पदार्थका जितना काम होना चाहिये उतना काम यदि करे तब तो उसे शुद्ध पदार्थ और यदि उतना काम न करके कम करे तो उसे अशुद्ध पदार्थ कहते हैं । एक आदर्शमे सामनेके दस गज तकके पदार्थ प्रकाशनेकी शक्ति है । यदि वह दर्पण निर्मल होगा तो अपने पदार्थ प्रकाशके कार्यको पूर्णपने करेगा । हा यदि वह मलीन होगा तो उस दर्पणमे प्रगट पदार्थोंका दर्शाव साफ नहीं होगा । यही हाल ज्ञानका है । यदि वह शुद्ध ज्ञान होगा तो उसका स्वभाव ही ऐसा होना चाहिये कि जिसमे भूत

भावी सर्व द्रव्यो की पर्याये वर्तमानमे विना कर्मके एक साथ जाननेमे आवे यही ज्ञानका महात्म्य है। हा यदि ज्ञान अशुद्ध होगा तो उसके जाननेमे अवश्य कमी रहेगी। इसीसे मति, श्रुत अवधि तथा मन.पर्ययज्ञानका विषय बहुत कम है। केवलज्ञानमे कोई ज्ञानावरण नही रहा तब वह सर्व ज्ञेयोको न जान सके यह बात कभी नही हो सक्ती। इसलिये वहा वर्तमान पर्यायोंके समान द्रव्योकी भूत भावी पर्यायें भी प्रत्यक्ष हो रही है—केवलज्ञानकी अपूर्व शक्ति है। एक २ द्रव्यमे अनत गुण है—हरएक गुणकी एकएक समयवर्ती एक एक पर्याय होती है। एक २ गुणकी भूत भावी पर्याये अनतानत है। तथा एक एक पर्यायमे शक्तिके अश अनत होते है। इन सर्वको विशेष रूप पृथक् पृथक् एक कालमे जान लेना केवलज्ञानका कार्य है। यह महिमा निर्मलज्ञान ही मे जानना चाहिये, क्षायिक ज्ञान ही ऐसा शक्तिशाली है। क्षयोपशमिक ज्ञानमे बहुत ही कम जाननेकी शक्ति है। केवलज्ञान सूर्य सम प्रकाशक है। ज्ञानकी पूर्ण महिमा इसी ज्ञानमे झलकती है। केवलज्ञानी अरहत भगवान यद्यपि सर्वज्ञ हैं तथापि उनके उपयोगकी सन्मुखता निज शुद्धात्माकी ओर है। अपने शुद्ध आत्माके सुख समुद्रमे मग्न हो परमानन्दमे छक रहे है। इसी तरह भेद विज्ञानीका कर्तव्य है कि निश्चय तथा व्यवहार नयसे सम्पूर्ण पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जानते हुए भी अपनी तन्मयता अपने शुद्ध आत्म स्वभावमे रखकर निजानन्दका अनुभव करके सुखी होवे ॥ ३९ ॥

अत्थं अक्खणिवदिदं, ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति।
तेसिं परोक्खभूदं, णादुमसक्कंति पण्णत्तं ॥ ४० ॥

अर्थमक्षनिपतितमीहापूर्वे ये विजानन्ति।
तेषा परोक्षभूत ज्ञातुमशक्यमिति प्रज्ञप्तम् ॥ ४० ॥

अर्थ—इस गाथामे आचार्यने केवलज्ञानको श्रेष्ठ तथा उससे नीचेके चारो ही क्षयोपशम ज्ञानको हीन बताया है। प्रथम मुख्यतासे मतिज्ञानको लिया है। टीकाकारने नैयायिक मतके अनुसार ज्ञानका स्वरूप बताकर उस इंद्रियज्ञानको बिलकुल असमर्थ बताया है। अर्थात् न वह ज्ञान वर्तमानमें ही दूरवर्ती पदार्थोंको या सूक्ष्म पदार्थोंको जान सक्ता है और न वह इन्द्रियज्ञान उस केवलज्ञानका कारण ही है जो सर्व ज्ञेयोंको जाननेके लिये समर्थ है। जैनमतके अनुसार मतिज्ञान इन्द्रिय और मनसे होता है। सो मतिज्ञान किसी भी पदार्थको प्रथम समयमे सामान्य दर्शनरूप ग्रहण करता है फिर उसके कुछ विशेषको जानता है तब अवग्रह होता है फिर और अधिक जानता तब ईहा होती फिर उसका निश्चयकर पाता तब अवाय होता फिर दृढ निश्चय करता तब धारणा होती। यह मतिज्ञान क्रम क्रमसे वर्तन करता तथा प्रत्येक इन्द्रिय अपने २ विषयका अलग २ ग्रहण करती। चार इद्रियें तो पदार्थसे स्पर्शकर तथा चक्षु व मन पदार्थसे दूर रहकर जानते है। मतिज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमके अनुसार बहुत ही थोडे पदार्थोंका व उनकी कुछ स्थूल पर्यायोका ज्ञान होता है। यह मतिज्ञान क्षेत्र व कालसे दूर व सूक्ष्म परमाणु आदिको नही जान सक्ता है। जो श्रुतज्ञान सैनी जीवमे मन द्वारा काम करता है सो भी अपना उत्कृष्ट क्षयोपशम इतना ही रखता है कि श्री आचारागादि द्वादश अगोको जानसके। यह ज्ञान भी बहुत थोडा है तथा क्रमसे प्रवर्तन करता है। जितना केवलज्ञानी जानते हैं उसका अनन्तवा भाग दिव्यध्वनिसे प्रगट होता। जितना दिव्यध्वनिसे प्रगट होता उतना गणधरोकी धारणामे नही रहता इससे दिव्यध्वनि द्वारा प्रगट ज्ञानका कुछ

अश धारणामे रहता है सो द्वादशागकी रचनारूप है। श्रुतज्ञान इससे अधिक जान नही सक्ता । अवधिज्ञान यद्यपि इन्द्रिय और मनद्वारा नही होता वहा आत्मा ही प्रत्यक्ष रूपसे जानता है तथापि इस ज्ञानका का कार्य्य उपयोग जोडनेसे होता है जिसमे मनके विकल्पका सहारा होजाता है तथा यह ज्ञान मात्र मूर्तीक पदार्थोंको द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी मर्यादारूप जानता है। अनन्त द्रव्यो को, अनन्त क्षेत्रको, अनन्त कालको व अनन्त भावोको नही जानसक्ता। मन पर्यायज्ञान भी यद्यपि प्रत्यक्ष है तथापि मन द्वारा विचारनेपर काम करता है इससे मनके विकल्पकी सहायता है तथा यह ढाई द्वीपके क्षेत्रमे रहनेवाले सैनी जीवोके मनमे तिष्ठते हुए मूर्तीक पदार्थको जानता है। यद्यपि यह अवधिज्ञानके विषयसे सूक्ष्म विषयको जानता है तथापि वहुत कम जानता व बहुत कम क्षेत्रको जानता है। ये चारो ही ज्ञान किसी अपेक्षासे इन्द्रिय और अनिद्रिय अर्थात कुछ इन्द्रिय रूप मनकी सहायतासे होते हैं इसलिये इनको इन्द्रिय ज्ञानमे गर्भित करसक्ते है। आचार्यका अभिप्राय यही झलकता है कि जो छद्मस्थ क्षयोपशम ज्ञानी हैं वे अपने अपने विषयको तो जानसक्ते हैं परतु बहुतसे ज्ञेय उनके ज्ञानके वाहर रहजाते है। जिनको सिवाय क्षायिक केवलज्ञानके और कोई जान नही सक्ता है। तात्पर्य यह है कि केवलज्ञान ही उपादेय है, ये चार ज्ञान हेय हैं। तथापि इनमेसे जो आत्म स्वसवेदनरूप भावश्रुतज्ञान है जिसमे आत्माकी आत्मामे स्वसमयरूप प्रवृत्ति होती है वह इन्द्रिय और मनके विकल्पोसे रहित निजास्वादरूप आनदमई ज्ञान हैं सो उपादेय है क्योकि यही भेद विज्ञानमूलक आत्मज्ञान केवलज्ञानकी उत्पत्तिका बीज हैं। इसलिये स्वतत्रताके चाहनेवाले ज्ञानीको इन्द्रिय और मनके विक-

रूपात्मक ज्ञानमे जो इन्द्रियोके क्षणिक सुखके साधन है, रति छोडकर अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्दके कारणरूप स्वसंवेदन ज्ञानमे तन्मयता करनी चाहिये।

अपदेस सपदेसं, मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं।
पलयं गदं च जाणदितं णाणमदिंदियं भणियं ॥४१॥

अप्रदेश सप्रदेश मूर्तममूर्तं च पर्ययमजातम्।
प्रलटे गतं च जानाति तज्ज्ञानमतीन्द्रिय भणितम् ॥४१॥

अर्थ —इस गाथामे आचायने केवलज्ञानकी और भी विशेपता झलकाई है कि जो ज्ञान इन्द्रिय और मनकी सहाय विना केवल आत्माकी स्वभावरूप शुद्ध अवस्थामे प्रगट होता है उसीमे यह शक्ति है जो वह वहु प्रदेश रहित असख्यात कालाणुओको तथा छुटे हुए परमाणुओको, प्रत्यक्ष जान सके तथा वहुप्रदेशी सर्व आत्माओको, पुग्दल स्कधोको, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा अनत आकाशको प्रत्यक्ष देख सके। वही सर्व मूर्तीक अमूर्तीक द्रव्यको अलग २ जानता है तथा हरएक द्रव्यकी जो अनत पर्याये हो गई है व होगी उन सवको भी अच्छी तरह भिन्न २ जानता है अर्थात् कोई जानने योग्य वात शेष नही रह जाती जो केवलज्ञानमे न झलके। इसीको सर्वज्ञता कहते हैं—व इसीके स्वामी आत्माको सर्वज्ञ कहते है। इस कथनसे आचार्यने केवलज्ञानको ही उपादेय कहा है और मति आदि चारो ज्ञानोको त्यागने योग्य कहा है क्योकि ये चारो ही अपूर्ण तथा क्रमसे जानते हैं—मतिश्रुत परोक्ष होकर मूर्तीक अमूर्तीक द्रव्योंकी कुछ स्थूल पर्यायोको जानते हैं—अवधि तथा मनःपर्यय एक देश प्रत्यक्ष होकर अमूर्तीकको नही जानते हुए केवल मूर्तीक द्रव्योकी

कुछ पर्यायोको क्रमसे जानते हैं–परन्तु केवलज्ञान एक काल सब कुछ जानता है क्योकि यह ज्ञान क्षायिक है, आवरण रहित है जबकि अन्य ज्ञान क्षयोपशमरूप सावरण है ऐसा केवलज्ञान प्राप्त करने योग्य है। जो निज हितार्थी भव्य जीव हैं उनको चाहिये कि इन्द्रिय और मनके सर्व विकल्पोको त्यागकर आत्माभिमुखी हो अपनेमे ही अपने आत्माका स्वसवेदन प्राप्त करके स्वानुभाव करें और इसी निज आत्माके स्वादमे सदा लवलीन रहे। इसी ही आत्मज्ञानके प्रभावसे परमानन्दमई सर्वज्ञपद प्राप्त होता है। जैसी भावना होती है वैसी फलती है। स्वस्वरूपकी भावना ही स्वस्वरूपकी प्रगटनाकी मुख्य साधिका है, आत्मज्ञानके ही अभ्यासमे अज्ञान मिटता है। श्री पूज्यपाद स्वामीने श्रीसमाधिशनकमे कहा है।

तद्ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत् ।
येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत् ॥

भाव यह है कि आत्माकी ही कथनी करे, उसीका प्रश्न दूसरोको पूछे, उसीकी ही इच्छा करे उसी हीमे तत्पर होजावे, इसीके अभ्यासमे अज्ञानमई अवस्था मिटकर ज्ञानमई अवस्थाको प्राप्त करे।

श्री नागसेन मुनिने श्री तत्त्वानुशासनमे कहा है–
परिणमते येनात्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति ।
अर्हद्ध्यानाविष्टो भावार्हः स्यात्स्वयं तस्मात् ॥१९०॥
येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित् ।
तेन तन्मयता याति सोपाधिः स्फटिको यथा ॥१९१॥

भाव यह है कि यह आत्मा जिस भावसे परिणमन करता है उसीके साथ तन्मई होजाता है। जब श्री अरहंत भगवानके

ध्यानमे ठहरता है तब उस ध्यानमे वह स्वयभावमे अरहतरूप होजाता है। आत्मज्ञानी जिस भावमे जिसरूप आत्माको ध्याता है वह उसी भावके साथ तन्मई हो जाता है जैसे फटिक पाषाणमे जैसी डाककी उपाधि लगे वह उस ही रगरूप परिणमन कर जाती है। ऐसा जानकर जिस तरह बने स्वस्वरूपकी आराधना करके ज्ञानको विशुद्ध करना चाहिये।

इस प्रकार अतीत व अनागत पर्यायें वर्तमान ज्ञानमें प्रत्यक्ष नही होती है ऐमे बौद्धोके मतको निराकरण करते हुए तीन गाथाए कही, उसके पीछे इन्द्रियज्ञानमे सर्वज्ञ नही होता है किंतु अतीन्द्रिय ज्ञानसे होता है ऐसा कहकर नैयायिक मतके अनुसार चलनेवाले शिष्यको समझानेके लिये गाथा दो, ऐसे समुदायसे पाचवे स्थलमे पाच गाथाए पूर्ण हुई ॥ ४१ ॥

परिणमदि णेयमट्ठं, णादा जदि णेव खाइगं तस्स ।
णाणंति तं जिणंदा, खवयंतं कम्यमवुत्ता ॥ ४२ ॥

परिणमति ज्ञेयमर्थं ज्ञाता यदि नैव क्षायिक तस्य ।
ज्ञानमिति त जिनेन्द्रा क्षपयत कर्मैवोक्तवन्तः ॥ ४२ ॥

अर्थ :—यहा आचार्य कर्मबधके कारणीभूत भावकी तरफ लक्ष्य दिला रहे हैं—वास्तवमे निर्विकार निर्विकल्प आत्मानुभवरूप वीतराग स्वरूपाचरण चारित्ररूप शुद्धोपयोग आत्माके ज्ञानका ज्ञानरूप परिणमन है—इस भावके सिवाय जब कोई अल्पज्ञानी किसी भी ज्ञेय पदार्थको विकल्प रूपसे जानता है और यह सोचता है कि यह पट है यह घट है यह नील है यह पीत है यह पुरुष है या, यह स्त्री है, यह सज्जन है या यह दुर्जन है, यह धर्मात्मा है या अधर्मी है, यह ज्ञानी है या यह अज्ञानी है तब

विशेष रागद्वेपका प्रयोजन न रहते हुए भी हेय या उपादेय बुद्धिके विकल्पके साथ कुछ न कुछ रागद्वेप होय ही जाता है। यह भाव स्वानुभव दशासे शून्य है इसलिये यह भाव कर्मोंके उदयको भोगनेरूप है अर्थात् उस भावमे अवश्य मोहका कुछ न कुछ उदय है जिसको वह भाववान अनुभव कर रहा है। ऐसी दशामे मोह भोक्ताके क्षायिक निर्मल केवलज्ञान उस समय भी नही है तथा आगामी भी केवलज्ञानका कारण वह सविकल्प सराग भात्र नही है। केवलज्ञानका कारण तो भेद विज्ञान है मूल जिसका ऐसा निश्चल स्वात्मानुभव ही है।

यदि कोई यह माने कि ज्ञान प्रत्येक पदार्थरूप परिणमन करके अर्थात् उधर अपना विकल्प लेजाकर जानता है तव वह ज्ञान एकके पीछे दूसरे फिर तीसरे फिर चौथे इसतरह क्रमवर्ती जाननेसे वह सर्व पदार्थोंका एक काल ज्ञाता सर्वज्ञ नही होसक्ता।

जिनेन्द्र अर्थात् तीर्थंकरादिक प्रत्यक्ष ज्ञानियोने यही बताया है कि पर पदार्थके भोगनेवालेके रागादि विकल्प है जहा कर्मोंका उदय है। इसलिये परमे सन्मुख हुआ आत्मा न वर्तमानमे निज स्वरूपका अनुभव करता है न आगामी उस स्वानुभवके फलरूप केवलज्ञानको प्राप्त करेगा, परन्तु जो कर्मोदयका भोग छोड निज शुद्ध स्वभावमे अपनेसे ही तन्मय हो जायगा वही वर्तमानमे निजानन्दका अनुभव करेगा तथा उसीके ही ज्ञानावरणीयका क्षय होकर निर्मल केवलज्ञान उत्पन्न होगा अर्थात् जहा वीतरागता है वही कर्मोंकी निर्जरा है तथा जहा सरागता है वही कर्मोंका बध है। अर्थात् रागादि ही बधका कारण है ॥ ४२ ॥

उदयगदा कम्मंसा, जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया।
तेसु हि मुहिदो रत्तो, दुट्ठो वा बधमणुभवति ॥४३॥

उदयगता कर्माशा जिनवरवृषभैः नियत्या भणिताः।
तेषु हि मूढो रक्तो, दुष्टो वा बंधमनुभवति ॥ ४३ ॥

अर्थ ।—इस गाथामे आचार्यने आत्माकी अशुद्धि होने अर्थात् कार्माण वर्गणारूप पुग्दलोसे बध होनेके कारणो को प्रगट किया है । प्रथम ही यह बतलाया है कि पदार्थोका ज्ञान बधका कारण नही है । ज्ञानका काम दीपकके प्रकाशकी तरह मात्र जानना है उसका काम मोहादि करना नही है इससे ज्ञान कम हो या अधिक ज्ञान बधका मूल कारण नही हैं । और न कर्मोका उदय बधक कारण है । कर्मोंके उदयसे सामग्री अच्छी या बुरी जो प्राप्त होती है उसमे यदि कोई रागद्वेष मोह नही करता है तो वह सामग्री आत्माके बध नही कर सक्ती । और यदि कर्मोके असरसे शरीर व वचनकी कोई क्रिया होजाय और आत्माका उपयोग उस क्रियामें रागद्वेष न करे तो उस क्रियासे भी नया बध नही होगा । बधका कारण राग, द्वेष, मोह है । जैसे शरीर द्वारा किसी अखाडेमें व्यायाम करते हुए यदि शरीर सूखा है, तैलादिसे चिकना व भीगा नही है तो अखाडेकी मिट्टी शरीरमे प्रवेश नहीं करेगी शरीरमें न बधेगी किन्तु यदि तैलादिकी चिकनई होगी तो अवश्य वहाकी मिट्टी शरीरमे चिपटजायगी । इसीतरह मन वचन कायकी क्रिया करते व जानपनेका काम करते हुए व बाहरी सामग्रीके होते हुए यदि परिणाममे राग द्वेष मोह नही है तो आत्माके नए कर्मोका बध न पड़ेगा और यदि राग द्वेष मोह होगा तो बध होगा । ऐसा ही श्री अमृतचंद आचार्यने समयसारकलशमें कहा है—

न कर्म्मबहुलं जगन्नचलनात्मकं कर्म्मवा-
ननेककरणानि वा न चिदचिद्वधो बधकृत् ॥-
यदैक्यमुपयोगभू समुपयाति रागादिभिः ।
स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम ॥ २-८ ॥

भाव यह है कि कार्माणवर्गणाओंसे भरा हुआ जगत बधका कारण नही है। न हलनचलन रूप मन, वचन, कायके योग बधके कारण हैं। न अनेक शरीर इंद्रिये व बाहरी पदार्थ बधके कारण है। न चेतन, अचेतनका वध बधका कारण है। जो उपयोगकी भूमिका रागादिसे एकताको प्राप्त हो जाती है वही राग, द्वेष, मोह, भावकी कालिमा जीवोंके लिये मात्र बधकी कारण है।

श्री पूज्यपाद स्वामी इष्टोपदेशमे कहते हैं ;-

मुच्यते जीव. सममो निर्मम क्रमात् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥ २६ ॥

भाव यह है कि जो जीव ममता सहित है वह बधता है। जो जीव ममता रहित है वह बधमे छूटता है। इसलिये सर्व प्रयत्न करके निर्भमत्व भावका विचार करो।

श्री गुणभद्राचार्य श्री आत्मानुशासनमें कहते हैं-
रागद्वेषकृताभ्या जन्तोर्बंध प्रवृत्यवृत्तिभ्याम् ।
तत्वज्ञानकृताभ्यां ताभ्यामेवेक्ष्यते मोक्ष. ॥ १८० ॥

भाव यह है कि इस जीवके, रागद्वेपसे करी हुई प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिसे, तो बध होता है। परन्तु तत्वज्ञान पूर्वककी हुई प्रवृत्ति और निवृत्तिसे कर्मोंसे मुक्ति होती है।

रागद्वेष अथवा कषाय चार प्रकारके होते हैं—

अनन्तानुबंधी जो मिथ्यात्वके सहकारी हों और सम्यक्त तथा स्वरूपाचरण चारित्रको रोकें।

अप्रत्याख्यानावरणीय—जो श्रावकके एक देश त्यागको न होने दे।

प्रत्याख्यानावरणीय—जो मुनिके सर्वदेश त्यागको न होने दे।

ठाणणिसेज्जविहारा, धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं ।
अरहंताणं काले मायाचारोव्व इच्छीणं ॥ ४४ ॥

स्थाननिषद्याविहारा धर्मोपदेशश्च नियतयस्तेषाम् ।
अर्हतां काले मायाचार इव स्त्रीणाम् ॥ ४४ ॥

अर्थः—इस गाथाकी पहली गाथामें आचार्यने बताया था कि कर्म बन्धके कारण रागद्वेष मोह हैं। न तो ज्ञान है, न पिछले कर्मोंका उदय है। इसी बातको दृष्टान्त रूपसे इस गाथामें सिद्ध किया है। केवलीभगवान पूर्ण ज्ञानी हैं तथा राग द्वेष मोहसे सर्वथा शून्य हैं परन्तु उनके चार अघातिया कर्मोंकी बहुतसी प्रकृतियोंका उदय मौजूद है जिससे कर्मोंके असरसे बहुतसी क्रियाएं केवली भगवानके वचन और काय योगोंसे होती हैं तो भी केवलीभगवानके कर्मोंका बंध नहीं होता, क्योंकि न तो उनके उन कार्योंके करनेकी इच्छा हो है और न वे कार्य केवली भगवानमें मोह उत्पन्न करनेके कारण होसक्ते हैं। केवली महाराज जब विहार करते हैं तब खड़े होकर विना डग भरे आकाशमें चलते हैं। जब समवशरण रचता है तब कमलाकार सिंहासनपर अंतरीक्ष बैठते हैं। चलना, खड़े होना तथा बैठना ये तो शरीरकी

क्रियाएं हैं तथा अपनी परम शांत अमृतमई दिव्यवाणीके द्वारा मेघकी गर्जना के समान निरक्षरी ध्वनि प्रगट करके धर्म्मका उपदेश देना यह वचनकी क्रिया है। ऐसे काय और वचन योगके प्रगट व्यापार हैं। इसके सिवाय शरीरमें नोकर्म वर्गणाका ग्रहण, पुरातन वर्गणाका क्षरना, काय योगका वर्तना शरीरके अवयवोंका पुष्ठि पाना आदि अनेक शरीर सम्बधी कार्य कर्मोंके उदयसे होते हैं। इन कार्योंमें केवली महाराजके रागयुक्त उपयोगकी कुछ प्रेरणा या चेष्ठा नहीं है इसीसे केवली महाराजकी क्रियाएं बिलकुल बंधकी करनेवाली नहीं है। यहांपर गाथामें बिना इच्छाके कर्मजन्य क्रियाके लिये स्त्रीके मायाचारमई स्वभावका दृष्टांत दिया है, जिसका भाव यह है कि स्त्री पर्यायमें स्त्री वेदका उदय अधिकांशमें तीव्र होता है जिससे भोगकी इच्छा सदा भीतरमें जलती रहती है उसीके साथ माया कषायका भी तीव्र उदय होता है जिससे अन्य कार्योंको करते हुए स्त्रियोंमें अपने हावभाव विलास व अपनी शोभा दिखलानेकी चेष्ठा रहती है कि पुरुष हमपर प्रेमालु हों—ऐसा मायाचारका स्वभावसा स्त्रियोंका होता है जिसका मतलब यह है कि अभ्यास और संस्कार व तीव्र कर्मोंके उदयसे मायाचारका भाव बुद्धिपूर्वक करते हुए भी स्त्रियोंमें मायाचार रूप भाव और वर्तन हो जाता है। यह बात अधिकतर स्त्रियोंमें पाई जाती है इसीसे आचार्यने बताया है कि जैसे स्त्रियोंके मायाचार कर्मोंके उदयके कारणसे स्वभावसे होता है वैसे स्वभावसे ही केवलीके कर्मोंके उदयके द्वारा विहारादिक होते हैं। वृत्तिकारने मेघोंका दृष्टांत दिया है कि जैसे मेघ स्वभावसे ही लोगोंके पाप पुण्यके उदयसे चलते, ठहरते, गर्जते तथा वर्षते हैं वैसे केवली भगवानका विहार व धर्मोपदेश स्वभावसे होता है तथा इसमें भव्यजीवोंके पापपुण्यका उदयका भी निमित्त

पड जाता है। जहाके लोगोके पापका उदय तीव्र होता है। वहा केवली महाराजका विहार होता है न धर्मोपदेश, किन्तु जहाके जीवोका तीव्र पुण्यका उदय होता है वहा ही केवली महाराजका विहार तथा धर्मोपदेश होता है। विना इच्छाके पुग्दलकी प्रेरणासे वहुतसी क्रियाए हमारे शरीर व वचनमे भी होजाती हैं। जैसे श्वासका लेना, चारो तरफकी हवा व परमाणुओका शरीरमे प्रवेश, भोजन पानका शरीरमे गलन, पचन, रुधिर मासादि निर्मापन, रोगोकी उत्पत्ति, आखोका फड़कना, छीक आना, जमाई आना, शरीरका वढना, वालोका उगना भूख प्यासका लगना, इन्द्रियोका पुष्ट होना, मार्गमे चलते चलते पूर्व अभ्याससे विना चाहे हुए मार्गकी तरफ चले जाना, स्वप्न व निद्रामे चौक उटना, वडवडाना, वोलना, अभ्यासके वलसे अन्य विचार करते हुए मुखसे अभ्यस्त पाठोका निकलजाना आदि। इनको आदि लेकर हजारो वचन व कायके व्यापार हमारी अवुद्धि पूर्वक विना इच्छाके होते हैं। हम इनमेसे वहुतसे व्यापारोके होनेकी व न होनेकी पहलेसे भावना रखते हैं तथा उनके होनेपर किन्हीमे राग व किन्हीमे द्वेप करते हैं इससे हम कर्मवधको प्राप्त होते हैं। जैसे हम सदा निरोगतासे राग करते तथा सरोगतासे द्वेष करते हैं, पौष्टिक इन्द्रियोकी चाह रखते हैं निर्वलतासे द्वेष करते हैं। जव हमारी इस चाहके अनुसार काम होता है तो और अधिक रागी होजाते है। यदि नही होता है तव और अधिक द्वेषयुक्त होजाते है। इस कारणसे यद्यपि हमारे भीतर भी बहुतसी क्रियायें उस समय विशेष इच्छाके विना मात्र कर्मोके उदयसे हो जाती हैं तथापि हम उनके होते हुए रागद्वेष मोह कर लेते हैं इससे हम अल्पज्ञानी अपनी कषायोके अनुसार कर्मवध करते हैं। केवली भगवानके भीतर मोहनीय कर्मका सर्वथा अभाव है इस

कारण उनमे न किसी क्रियाके लिये पहले ही वाछा होती है न उन क्रियाओके होनेपर रागद्वेष मोह होता है इस कारण जिनेन्द्र भगवान कर्मवध नही करते हैं।

जैसे जिनेन्द्र भगवान कर्मबन्ध नही करते है वैसे उनके भक्त जिन जो सम्यग्दृष्टि गृहस्थ या मुनि हैं वे भी ससारका कारणीभूत कर्मवध नही करते हैं–जितना कपायका उदय होता है उसके अनुसार अल्पकर्मवध करते हैं जो मोक्ष मार्गमे बाधक नही होता है। सम्यग्दृष्टी तथा मिथ्यादृष्टि प्रगट व्यवहारमे व्यापार, कृषि, शिल्प, खान, पान, भोगादि समान रूपसे करते हुए दिखाई पडते हैं तथापि मिथ्यादृष्टि उनमे आशक्त हैं इससे ससारका कारण कर्म वाधता है। किंतु सम्यग्दृष्टी उनमे आशक्त नही है किंतु भीतरसे नही चाहता है मात्र आवश्यक्ता व कर्मके तीव्र उदयके अनुसार लाचारीसे क्रियायें करता है इसी कारण वह ज्ञानी ससारके कारण कर्मोको नही वाधता है–वहुत अल्प कर्म वाधता है जिसको आचार्योने प्रशसारूप वचनोके द्वारा अवध कह दिया है। प्रयोजन यह है कि वध कषायोके अनुकूल होता है। एक ही कार्यके होते हुए जिसके कपाय तीव्र वह अधिक व जिसके कषाय मद वह कम पाप वाधता है। एक स्वामीने किसी सेवकको किसी पशुके वधकी आज्ञा दी। स्वामी वध न करता हुआ भी रागकी तीव्रतासे अधिक पापवध करता है जव कि सेवक यदि मनमे वधसे हेय बुद्धि रखता है और स्वामीकी आज्ञा पालनेके हेतु वध करता है तो स्वामीकी अपेक्षा कम पाप वध करता है। रागद्वेषके अनुसार ही पाप पुण्यका वध होता है।

श्रीआत्मानुशासनमें श्रीगुणभद्रस्वामी कहते हैं—

द्वेषानुरागबुद्धिर्गुणदोषकृता करोति खलु पापम्।
तद्विपरीता पुण्यं तदुभयरहिता तयोर्मोक्षम्॥ १८१॥

अर्थ :—रत्नत्रयादि गुणोमे द्वेष व मिथ्यात्वादि दोषोंमे रागकी बुद्धि निश्चयसे पापबंध करती है। तथा इससे विपरीत गुणोमे राग व दोषोसे द्वेषकी बुद्धि पुण्य बंध करती है तथा गुण दोषोमे रागद्वेष रहित वीतराग बुद्धि पाप पुण्यसे जीवको मुक्त करती है।

तात्पर्य्य यह है कि रागद्वेष मोहको ही बंधका कारण जानकर इनहीके दूर करनेके प्रयोजनसे शुद्धोपयोगमय स्वसवेदन ज्ञान रूप स्वानुभवका निरन्तर अभ्यास करना योग्य है।

पुण्णफला अरहंता, तेंसि किरिया पुणो हि ओदयिगा।
मोहादीहिं विरहिदा, तम्हा सा खाइगत्ति मदा ॥४५॥

पुण्यफला अर्हन्तस्तेषा क्रिया पुनर्हि औदयिकी।
मोहादिभि विरहिता तस्मात् सा क्षायिकीति मता ॥४५॥

अर्थ :— इस गाथामे भी आचार्य महाराजने इसी बातका दृष्टात दिया है कि कर्मोदय मात्र नवीन बंध नही करसक्ता। कर्मोंके उदय होनेपर जो जीव उस उदयकी अवस्थामे राग द्वेष मोह करता है वही जीव बंधता है। तीर्थंकर भगवानका दृष्टात है कि तीर्थंकर महाराजके समवशरणकी रचना होनी, आठ प्रातिहार्य्य होने, इन्द्रादिको द्वारा पूजा होनी, विहार होना, ध्वनि प्रगट होनी आदि जो जो कार्य्य दिखलाई पडते हैं उनमे कर्मोका उदय कारण है। मुख्यतासे तीर्थंकर नाम कर्म्मका उदय है तथा गौणतासे उसके साथ साता वेदनीय आदिका उदय है, परन्तु तीर्थंकर महाराजकी आत्मा इतनी शुद्ध तथा विकार रहित है कि उसमे कोई प्रकारकी इच्छा व रागद्वेष कभी पैदा नही होता। वह भगवान अपने आत्माके स्वरूपमे मग्न हैं। आत्मीक रसका पानकर रहे है।

उनके ज्ञानमे सर्व क्रियाए उदासीन रूपसे झलक रही है उनका उनमे किंचित् भी राग नही है क्योकि रागका कारण मोहनीय कर्म है सो प्रभुके विलकुल नही है। प्रभुकी अपेक्षा समवशरण रहो चाहे वन रहो, वारह सभा जुडो या मत जुडो, देवगण चमरादिसे भक्ति करो वा मत करो, इन्द्र व चक्रवर्ती आदि आठ द्रव्योसे पूजा व स्तुति करो वा मत करो, विहार हो वा मत हो सर्व समान हैं। कर्मोंके उदयसे क्रियाए होती है सो हो। वे क्रियाए आत्माके परिणामोमे विकार नही करती है मात्र कर्म अपना रस देकर अर्थात् अपना कार्य करके चले जाते हैं। झड जाते हैं। क्षय होजाते हैं। इस अपेक्षासे यह औदयिक क्रिया क्षायिक क्रिया कहलाती है।

अभिप्राय यह कि आठ कर्मोंमेसे मोहनीय कर्म ही प्रवल है यही अपने उदयसे निर्वल आत्मामे विकार पैदा कर सक्ता है। जव इसका उदय नही है वहा अन्य कर्मका उदय हो वा मत हो, आत्माका न कुछ विगाड है न सुधार है। ऐसा जानकर कि मोह रागद्वेप ही वन्धके कारण हैं हम छद्मस्थ ससारी जीवोका यह कर्त्तव्य है कि हम इनको दूर करनेके लिये निरन्तर शुद्ध आत्माकी भावना रक्खें तथा साम्यभावमे वर्तन करें तथा जव जव पाप या पुण्यकर्म अपना अपना फल दिखलावें तव तव हम उन कर्मोंके फलमे रागद्वेप न करें—समताभावसे ज्ञाता दृष्टा रहते हुए भोगले, इसका फल यह होगा कि हमारे नवीन कर्म वन्ध नही होगा—अथवा यदि होगा तो वहुत अल्प होगा तथा हमारे भावोमे पापके उदयमे आकुलता और पुण्यके उदयसे उद्धतता नही होगी। जो पापके उदयमे मैं दुखी ऐसा भाव तथा पुण्यके उदयसे मैं सुखी ऐसा अहकारमई भाव करता है वही विकारी होता है और तीव्र वन्धको प्राप्त करता है। अतएव हमको साम्यभावका अभ्यास करना चाहिये ॥ ४५ ॥

जदि सो सुहो व असुहो, ण हवदि आदा सयं सहावेण।
संसारो वि ण विज्जदि, सव्वेसिं जीवकायाणं ॥४६॥

यदि स शुभो वा अशुभो न भवति आत्मा स्वयं स्वभावेन।
संसारोपि न विद्यते सर्वेषां जीवकायानाम् ॥४६॥

अर्थ —इस गाथामे आचार्य संसारी जीवोंकी ओर लक्ष देते हुए कहते हैं कि केवली भगवानके सिवाय अन्य संसारीजीव शुद्ध केवलज्ञानी नही है। यहा पर जहामे अप्रमत्त अवस्था प्रारम्भ होकर यह जीव क्षपक श्रेणी द्वारा क्षीण मोह गुणस्थान तक आता है उस अवस्थाके जीवोंको भी छोड दिया है क्योंकि ये अंतर्मुहूर्तमे ही केवली होंगे। तथा उपशम श्रेणीवालोंको भी छोड दिया है क्योंकि वहा बुद्धिपूर्वक जीवोमे शुद्धोपयोग रहता है। प्रमत्त गुणस्थान तक कषायका उदय प्रगट रहता है। इसलिये शुभ या अशुभरूप परिणमन वहातक संभव है क्योंकि अधिकाश जीव समूह मिथ्यादृष्टी हैं। इसलिये उनहीकी ओर विशेष लक्ष्य देकर आचार्य कथन करते हैं कि यदि सांख्यके समान संसार अवस्थामे जीवोंको सर्वथा शुद्ध और निर्लेप मान लोगे तो सर्व संसारी जीव पूर्ण शुद्ध सदा रहेगे सो यह बात प्रत्यक्षमे देखनेमे नही आती है। संसारी जीव कोई अति अल्प कोई अल्प कोई उससे अधिक ज्ञानी व शात दीखते हैं। मुक्त जीवके समान त्रिकालज्ञ त्रिलोकज्ञ वीतराग तथा आनन्दमई नही दिख रहे हैं तब सर्वथा व्यवहारमे भी जीवोंको शुद्ध और अपरिणामी कैसे माना जासक्ता है।? यदि सब शुद्ध माने जावे तब मुक्तिका उपदेश देना ही व्यर्थ हो जायगा। तथा जब संसारी जीव परिणमनशील न होगा तो दुःखी या सुखी कभी नही हो

सत्ता । जडवत् एक रूप पडा रहेगा, सो यह वात द्रव्यके स्वभावसे भी विरोधरूप है। आत्मा ससार अवस्थामे जव उस आत्माको पर्याय या अवस्थाकी अपेक्षा देखा जावे तव वह अशुद्ध कर्म वद्ध, अज्ञानी, अशात आदि नाना अवस्थारूप दीखेगा, हा जव मात्र स्वभावकी अपेक्षासे देखे तो केवल शुद्ध रूप दीखेगा। शुद्ध निश्चनय जैनसिद्धान्तमे द्रव्यके त्रिकाल अवाधित शुद्ध स्वभावकी ओर लक्ष्य दिलाती है। इसका यह अभिप्राय नही है कि हरएक ससार पर्याय ही शुद्ध रूप है । जव जीवकी ससार अवस्थाको देखा जाता है तव उस दृष्टिको अशुद्ध या व्यवहार दृष्टि या नय कहते है। उस दृष्टिसे देखते हुए यही दिखता है कि यह जीव अपने शुद्र स्वभावमे नही है। यद्यपि यह स्फटिकमणिके समान स्वभावसे शुद्र है तथापि कर्मवधके कारणसे इसका परिणमन स्फटिकमे लाल,काले,पीले डाकके सम्वन्धकी तरह नाना रगका विचित्र झलकता है । जव यह अशुभ या तीव्र कषायके उदयरूप परिणमन करता है तव यह अशुभ परिणामवाला और जव शुभ या मद कपायके उदयरूप परिणमन करता है तव शुभ परिणामवाला स्वय स्वभावसे अर्थात् अपनी उपादान शक्तिसे होजाता है। जैसे फटिकका निर्मल पाषाण लाल डाकसे लाल रगरूप या काले डाकसे काले रगरूप परिणमन करता है वैसे यह परिणमनशील आत्मा तीव्र कषायके निमित्तसे अशुभरूप तथा मद कपायके निमित्तसे शुभरूप परिणमन करजाता है। उस समय जैसे फटिकका निर्मल स्वभाव तिरोहित या ढक जाता है वैसे आत्माका शुद्ध स्वभाव तिरोहित होजाता है । पर्याय हरएक द्रव्यमे एक समय एकरूप रहसक्ती हैं। शुद्ध और अशुद्ध दो पर्याये एक समयमे नही रह सक्ती हैं । ससार अवस्थामे मुख्यतासे जीवोमे अधिकाश अशुद्ध परिणमन तथा मुक्तावस्थामे

सर्व जीवोके शुद्ध परिणमन रहता है। यह जीव आप ही अपने परिणामोमे कभी शुभ या अशुभ परिणामवाला होजाता हैं। इसीसे इसके रागद्वेष मोह भाव होते हैं। जिन भावोंके निमित्तसे यह जीव कर्मोका वध करता है और फिर आप ही उनके फलको भोक्ता है, फिर आप ही शुद्ध परिणमन के अभ्यासमे शुद्ध होजाता है। साख्यकी तरह अपरिणामी माननेमे ससार तथा मोक्ष अवस्था कोई नही वन सक्ती है। परिणामी माननेमे ही जीव ससारी रहता तथा ससार अवस्थाको त्यागकर मुक्त होजाता।

श्री अमृतचंद्र आचार्यने श्रीपुरुषार्थसिध्दयुपाय ग्रन्थमे कहा है।

परिणममानो नित्यं ज्ञानविवर्तैरनादिसतत्या।
परिणामाना स्वेषा स भवति कर्त्ता च भोक्ता च॥ १०॥
सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति।
भवति तदा कृतकृत्य सम्यक्पुरुषार्थसिध्दमापन्न॥ ११॥

भाव यह है कि अनादि परिपाटीसे ज्ञानावरणीय आदि कर्मोके निमित्तसे नित्य ही परिणमन करता हुआ यह जीव अपने ही शुभ अशुभ परिणामोका कर्त्ता तथा भोक्ता हो जाता है। जब यह आत्मा सर्व आवरणोसे उतरे हुए शुद्ध निश्चल चैतन्य भावको प्राप्त करता है तव यह भले प्रकार अपने पुरुषार्थकी सिद्धिको प्राप्त होता हुआ कृतकृत्य कृतार्थ तथा सुखी हो जाता है।

इस तरह ससारी छद्मस्थोके स्वभावका घात हो रहा है ऐसा जानकर शुभोपयोग तथा अशुभोपयोगको त्यागकर शुद्धोपयोग अथवा साम्यभावमे परिणमन करना योग्य है जिससे कि आत्मा केवलज्ञानीकी तरह शुद्ध निर्विकार तथा अबन्ध हो जावे यह तात्पर्य्य है।

इस तरह यह वताया कि राग द्वेप मोह वन्धके कारण हैं, ज्ञान वधका कारण नही है इत्यादि कथन करते हुए छठे स्थलमे पाच गाथाए पूर्ण हुईं ॥ ४६ ॥

जं तक्कालियमिदरं, जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं, तं णाणं खाइयं भणियं ॥४७॥

यत्तात्कालिकमितर जानाति युगपत्समन्तत सर्वम् ।
अर्थं विचित्रविपम तत् ज्ञान क्षायिक भणितम् ॥४७॥

अर्थ :—इस गाथामे आचार्यने केवलज्ञानकी महिमाको प्रगट किया है और यह वतलाया है कि ज्ञानका पूर्ण और स्वाभाविक कार्य इसी अवस्थामे झलकता है। जव सर्व ज्ञानावरणीय कर्मका क्षय हो जाता है तव ही केवलज्ञान प्रगट होता है। फिर यह हो नही सक्ता कि इस ज्ञानसे वाहर कोई भी ज्ञेय रह जावे। इसीको स्पप्ट करनेके लिये कहा है कि जगतमे पदार्थ समूह अनंत है और वे सव एक जातिके व एक प्रकारके नही है किंतु भिन्न २ जाति व भिन्न २ प्रकारके हैं। विसम शव्दसे यह द्योतित किया है कि जगतमात्र चेतन स्वरूप ही नही है, न मात्र अचेतन स्वरूप है किंतु चेतन अचेतन स्वरूप है। जितने जीव है वे चेतन हैं जितने पुग्दल आदि पाच द्रव्य हैं वे अचेतन है। तथा न केवल मूर्तीक ही हैं न मात्र अमूर्तीक ही है किंतु पुग्दल सव मूर्तीक है, शेष पाच द्रव्य अमूर्तीक हैं। विचित्र शव्दसे यह बताया है कि जीव जगतमे एक रूप नही है कोई मुक्त हैं कोई ससारी है, ससारियोंमे भी चतुर्गति रूपसे भिन्नता है। एक गतिमे भी अनेक विचित्र रचना जीवोके शरीरादिककी उनके भिन्न २ कर्मोंके उदयसे हो रही हैं। केवलज्ञानमे यह शक्ति है कि सर्व सजाति विजातीय

द्रव्योको उनके विचित्र भेदो सहित जानता है। उस ज्ञानमें निगोदसेले सिद्ध पर्यंत सर्व जीवोका स्वरूप अलग २ उनके आकारादि भिन्न २ दिख रहे है वैसे ही पुग्दल द्रव्यकी विचित्रता भी झलक रही है। परमाणु और स्कध रूपसे दो भेद होनेपर भी सचिक्कणता व रूक्षताके अशोकी भिन्नताके कारण परमाणु अनत प्रकारके हैं। दो परमाणुओके स्कधको आदि लेकर तीनके, चारके, इसी हर सख्यातके असख्यातके व अनत परमाणुओके नाना प्रकारके स्कध वन जाते हैं जिनमे विचित्र काम करनेकी शक्ति होती है। उन सर्व स्कधोको व परमाणुओको केवलज्ञान भिन्न २ जानता है। इसी तरह असख्यात कालाणु, एक अखड धर्मास्तिकाय एक अखड अधर्मास्तिकाय तथा एक अखड आकाशास्तिकाय ये सब द्रव्य जिनमे सदा स्वाभाविक परिणमन ही होता है उस निर्मलज्ञानमे अलग २ दिख रहे हैं। प्रयोजन यह है कि यह विचित्र नाना प्रकार व जातिका जगत अर्थात् जगतके सर्व पदार्थ ज्ञानमे प्रगट हैं। कालापेक्षा भी वह ज्ञान हरएक द्रव्यकी सर्वभूत, भविष्यत, वर्तमान पर्यायोको वर्तमानके समान जानता है। तथा इस ज्ञानमे शक्ति इतनी अपूर्व है कि यह ज्ञान मति ज्ञानादि क्षयोपशमिक ज्ञानोकी तरह क्रम क्रमसे नही जानता है किन्तु एक साथ एक समयमे सर्व पदार्थोकी सर्व पर्यायोको अलग अलग जानता है। केवलज्ञानका आकार आत्माके प्रदेशोके समान है। आत्मामे असंख्यात प्रदेश हैं। केवलज्ञान सर्वत्र व्यापक है। हरएक प्रदेशमे केवलज्ञान समान शक्तिको रखता है। जैसे अखड आत्मा केवलज्ञानमई सर्वज्ञेयोको जानता है वैसे एक एक केवल ज्ञानसे सना हुआ आत्मप्रदेश भी सर्वज्ञेयोको जानता है। इस केवलज्ञानकी शक्तिका महात्म्य वास्तवमें हम अल्पज्ञानियोके ध्यानमे नही आसक्ता है। इसका महात्म्य उनहीके गोचर है जो स्वय केवल-

ज्ञानी हैं। हमको यही अनुमान करना चाहिये कि ज्ञानमे हीनता आवरणमे होती है जब सर्व कर्मोका आवरण क्षय होगया तब ज्ञानके विकाशके लिये कोई रुकावट नही रही। तब ज्ञान पूर्ण अतीन्द्रिय, प्रत्यक्ष, स्वभाविक होगया। फिर भी उसके ज्ञानसे कुछ ज्ञेय शेष रहजाय-यह असभव है। इस ज्ञानमे तो ऐसी शक्ति है कि इस जगतके समान अनते जगत भी यदि होवे तो इस ज्ञानमे झलक सक्ते हैं। ऐसा अद्भुत केवलज्ञान जहा प्रगट है वही सर्वज्ञपना है तथा वही पूर्ण निराकुलता और पूर्ण वीतरागता है क्योकि विना मोहनीयका नाश भये ज्ञानका आवरण मिटता नही। इसलिये जब सर्व जान लिया तब किसीके जाननेकी इच्छा हो नही सक्ती। तथा इन्द्रियाधीन ज्ञान जैसे नही रहा वैसे इन्द्रियाधीन विषय सुखका भी यहा अभाव है। यहा आत्मामे स्वाभाविक अतीन्द्रिय अनन्त सुख प्रगट होगया है। केवलज्ञान और अनत सुखका अविनाभाव सम्बन्ध है। ससारी जीव जिस सुखको न पाकर सदा वनमें जलके लिये भटकते हुए मृगकी तरह तृषातुर रहते है वह स्वाभाविक सुख इस अवस्थामें ही पूर्णपने प्राप्त होजाता है। इसीतरह अनत वीर्य आदि और भी आत्माके अनत गुण व्यक्त होजाते है। ऐसे निर्मल ज्ञानके प्राप्त करनेका उत्साह रखकर भव्य जीवको उचित है कि इसकी प्रगटताका हेतु जो शुद्धोपयोग या साम्यभाव या स्वात्मानुभव है उसीकी भावना करे तथा उसीके द्वारा सर्व सकल्प विकल्प त्याग निश्चिन्त हो निज आत्माके रसका स्वाद ले तृप्त होवें। यही अभिप्राय है ॥ ४७ ॥

जो ण विजाणदि जुगवं, अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे ।
णादुं तस्स ण सक्कं, सपज्जयं दव्वमेगं वा ॥ ४८ ॥

यो न विजानाति युगपदर्थान् त्रैकालिकान् त्रिभुवनस्थान् ।
ज्ञातु तस्य न शक्य सपर्यय द्रव्यमेके वा ॥ ४८ ॥

अर्थ —यहा आचार्यने केवलज्ञानकी महिमाको वताते हुए गाथामे यह वात झलकाई है कि जो कोई तीन लोकके सर्व पदार्थो को एक समयमे नहीं जानता है वह एक द्रव्यको भी पूर्णपने नहीं जानसक्ता। वृत्तिकारने यह भाव वताया है कि अपना आत्म ज्ञानस्वभाव होनेसे ज्ञायक है। जव वह ज्ञान शुद्ध होगा तो सर्व द्रव्य पर्यायमई ज्ञेयरूप यह जगत उस ज्ञानमे प्रतिविम्वित होगा अर्थात् उनका ज्ञानाकार परिणमन होगा। इसलिये जो सवको जानसकेगा वह अपने आत्माको भी यथार्थ जानसकेगा और जो सर्वको जाननेको समर्थ नही है उसका ज्ञान अशुद्ध है तव वह एक अपने आत्माको भी स्पष्ट पूर्णपने नही जान सकगा। यहा दृष्टात दिये है सो सव इसी वातका स्पष्ट करते हैं जो अग्नि सर्व ईंधनको जलावेगी वह अग्नि सव ईधनरूप परिणमेंगी। तव जो दाह्यको जानोगे तो दाहकको भी जानोगे यदि दाह्य ईंधनको नहीं देख सक्ते तो अग्निको भी नही देख सक्ते जो सर्व ईंधनमे व्यापक है। जो सूर्य व दीपक व दर्पणद्वारा व दृष्टिद्वारा प्रतिविम्वित पदार्थोंको जान सकेगा वह क्या सूर्य, दीपक दर्पण व दृष्टिवाले पुरुषको न जान सकेगा ? अवश्य जान सकेगा। इसी तरह जो सर्वको जानेगा वह सर्वके जाननेवाले आत्माको भी जान सकेगा। जो सर्वको न जानेगा वह निज ज्ञायक आत्माको भी नही जान सकेगा। इस भावके सिवाय गाथासे यह भाव भी प्रगट होता है कि जो सर्व ज्ञेयोको एक कालमे नही जान सकेगा। वह एक द्रव्यको भी उसकी अनत पर्यायोके साथ नही जान सकेगा। एक कालमे सर्व क्षेत्रमे फैले हुए पदार्थोंको जानना क्षेत्र अपेक्षा विस्तारको जानना है। तथा एक क्षेत्रमें स्थित किसी पदार्थको उसकी भूत भविष्यत् पर्यायोको

जानना काल अपेक्षा विस्तारको जानना हैं। क्षेत्र अपेक्षा लोकाकाश मात्र असख्यात प्रदेशरूप है यद्यपि अलोकाकाश अनत है तथा काल अपेक्षा एक द्रव्य अननानत समयोमे होनेवाली पर्यायोकी अपेक्षा अनतानतरूप है। जो लोकाकाशके क्षत्र विस्तारको एक समयमे जाननेको समर्थ नही है वह उसके अनतगुणे काल विस्तारको कैसे जान सकेगा ? अर्थात् नही जान सकेगा। किसी भी क्षयोपशम ज्ञानमे दोनोके विस्तारको स्पष्टपने सर्व उपस्थित पदार्थ सहित जाननेकी शक्ति नही है। चारो ही ज्ञान वहुतकम पदार्थोको जानते हैं। यह तो क्षायिकज्ञान जो अतीन्द्रिय और स्वाभाविक है उसीमे शक्ति है जो सर्व क्षेत्रकी व सर्वकालकी सर्व द्रव्यो की सर्व पर्यायोको जान सके। अतएव यह सिद्ध है कि जो सर्व तीनकाल व तीनलोक के पर्याय सहित द्रव्योको नही जान सक्ता वह एक द्रव्यको भी उनकी अनत पर्याय सहित नही जान सक्ता। मात्र केवलज्ञान ही जानसक्ता है। जैसे वह सर्वको जानता है वैसे वह एकको जानता है।

ऐसी महिमा केवलज्ञानकी जानकर कि उसके प्रगट हुए विना न हम पूर्णपने अपने आत्माको जानसक्ते न हम एक किसी अन्य द्रव्यको जानसक्ते। हमको उचित है कि इस निर्मल केवलज्ञानके लिये हम शुद्धोपयोग या साम्यभावका अभ्यास करे।

दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि ।
ण विजाणदि जदि जुगवं, किध सो सव्वाणि जाणादि ॥४६

द्रव्यमनतपर्यायमेकमनन्तानि द्रव्यजातानि ।
न विजानाति यदि युगपत् कथ स सर्वाणि जानाति ॥ ४६ ॥

अर्थ :- इस गाथामे भी आचार्यने केवलज्ञानकी महिमाको और आत्माके ज्ञान स्वभावको प्रगट किया है। ज्ञान आत्मा

का स्वभाव है। जो सबको जाने उसे ही ज्ञान कहते हैं। अर्थात् महा सामान्यज्ञान सर्व ज्ञेयोको जाननेवाला है। भिन्न २ पदार्थोके ज्ञानको विशेष ज्ञान कहते हैं। ये विशेष ज्ञान सामान्यमें व्याप्य हैं अर्थात् गर्भित हैं। जो कोई अपने आत्माके स्वभावको पूर्णपने प्रत्यक्ष स्पष्ट जानता है वह नियमसे उस ज्ञान स्वभाव द्वारा प्रगट सर्व पदार्थोको जानता है। यह ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध दुर्निवार है। और जो कोई अपने आत्मस्वभाव को प्रत्यक्ष नहीं जानता है वह सर्वको भी नही जानसक्ता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आत्मज्ञानी सर्वका जाननेवाला होता है। यहा यह भी समझना चाहिये कि निर्मल ज्ञानमे दर्पणमे प्रतिबिम्बकी तरह सर्व पदार्थोंके आकार स्वय झलकते है वह ज्ञान ज्ञेयाकारसा होजाता है। इसलिये जो दर्पणको देखता है वह उसमे झलकते हुए सर्व पदार्थोको देखता ही है। जो दर्पणको नही देखसक्ता है। वह झलकनेवाले पदार्थोंको भी नही देख सक्ता है। इसी तरह जो निर्मल शुद्ध आत्माको देखता है वह उसमे झलकते हुए सर्व ज्ञेयरूप अनत द्रव्योंको भी देखता है। इसमे कोई शंका नही है। ऐसा ज्ञाताके भीतर ज्ञानज्ञेय सम्बन्ध है। ज्ञानसे जो प्रगटे वह ज्ञेय। ज्ञेयोको प्रगटावे वह ज्ञान है। ज्ञान आत्माका स्वभाव है। इसलिये आत्माको जाननेवाला सर्वज्ञ होता ही है। अथवा जो कोई पुरुष एक द्रव्यको उसकी अनत पर्य्यायोंके साथ जाननेको असमर्थ है वह सर्व द्रव्योको एक समयमे कैसे जानसक्ता है ? कभी भी नही जानसक्ता है। जिस आत्मामे शुद्धता होगी वही अपने को भी, दूसरेको भी, एकको भी अनेकको भी, सर्वज्ञेय मात्रको एक समयमे जानसता है। स्वपरका प्रत्यक्ष ज्ञान केवलज्ञानी हीको होता है। जो अल्पज्ञानी हैं वे श्रुतज्ञानके द्वारा परोक्षरूपसे सर्वज्ञेयोको जानते हैं परन्तु उनको सर्व पदार्थ तथा उनकी सर्व अवस्थाए एक समयमे स्पष्ट २ नही

मालूम पड सक्ती हैं वे ही श्रुतज्ञानी आत्माको भी अपने स्वानुभवसे जान लेते हैं। यद्यपि केवल ज्ञानीके समान पूर्ण नही जानते उनको कुछ मुख्य गुणोके द्वारा आत्माका स्वभाव अनात्मद्रव्योसे जुदा भासता है। इसी लक्षणरूप व्याप्तिसे वे लक्ष्यरूप आत्माको समझ लेते हैं और इसी ज्ञानके द्वारा निज आत्माके स्वरूपकी भावना करते हैं तथा स्वरूपमे अशक्ति पाकर निजानदका स्वाद लेते हुए वीतरागतामे शोभायमान होते हैं और इसी शुद्ध भावनाके प्रतापसे वे केवलज्ञानको प्रगट करलेते हैं। ऐसा जान निज स्वरूपका मनन करना ही कार्य्यकारी है ॥ ४९ ॥

उप्पज्जदि जदि णाणं, कमसो अट्ठे पडुच्च णाणिस्स।
तं णेव हवदि णिच्चं, ण खाइगं णेव सव्वगदं ॥५०॥

उप्पद्यते यदि ज्ञानं क्रमशोऽर्थान् प्रतीत्य ज्ञानिन ।
तन्नैव भवति नित्य न क्षायिक नैव सर्वगतम् ॥५०॥

अर्थ :—यहा आचार्य केवलज्ञानको ही जीवका स्वाभाविक ज्ञान कहनेके लिये और उसके सिवाय जितने ज्ञान है उनको वैभाविक ज्ञान कहनेके लिये यह दिखलाते हैं कि जो ज्ञान पदार्थोका आश्रय लेकर क्रम क्रमसे होता है वह ज्ञान स्वाभाविक नही है। न वह नित्य है, न क्षायिक है और न सर्वगत है। मति, श्रुत, अवधि और मन पर्यय ज्ञान ये चारो ही किसी भी पदार्थको क्रमसे जानते हैं-जव एकको जानते है तव दूसरेको नही जान सक्ते। जैसे मतिज्ञान जव वर्णको जानता है तव दूरसको विपय नही कर सकता और न मनसे कुछ ग्रहण कर सकता है। पाच इद्रिय और मन द्वारा मतिज्ञान एत साथ नही जान सकता किन्तु एक काल एक ही इन्द्रियसे जान सकता है। उसमे भी

थोडे विषयको जान सकता है उस इन्द्रिय द्वारा ग्रहण योग्य सर्व विषयको नही जानता है। आखोसे पहले थोडेसे पदार्थ, फिर अन्य फिर अन्य इस तरह क्रमसे ही पदार्थोका ज्ञान अवग्रह ईहा आदिके क्रमसे होता है। धारणा होजाने पर भी यदि पुन पदार्थका स्मरण न किया जाय तो वह वात भूला दी जाती है। तथा जो पदार्थ नष्ट होजाते हैं उनका ज्ञान कालान्तरमे नही रहता है। इसी तरह श्रुतज्ञान जो अनक्षरात्मक है वह मतिज्ञान द्वारा ग्रहीत पदार्थके आश्रयसे अनुभव रूप होता है और जो अक्षरात्मक है वह शास्त्र व वाणी सुनकर या पढकर होता है। शास्त्रज्ञान क्रमसे ग्रहण किया हुआ क्रमसे ही ध्यानमे बैठता है। तथा कालान्तरमे बहुतसा भूला दिया जाता है। अवधिज्ञान भी किसी पदार्थकी ओर लक्ष्य किये जाने पर उसके सम्बन्धमे आगे व पीछेके भवोको ज्ञान क्रमसे द्रव्य क्षेत्रादिकी मर्यादा पूर्वक करता है। सो भी सदा एकसा नही बना रहता है। विषयकी अपेक्षा वदलता रहता है व विस्मरण होजाता है। यही हाल मनःपर्ययका है, जो दूसरेके मनमे स्थित पदार्थको क्रमसे जानता है। इस तरह ये चारो ही ज्ञान क्रमसे जाननेवाले हैं और सदा एकसा नही जानते। विषयकी अपेक्षा ज्ञान नष्ट होजाता है और फिर पैदा होता है। इसलिये ये केवलज्ञानकी तरह नित्य नही हैं, जब कि केवलज्ञान नित्य है। वह ज्ञान विना किसी क्रमके सर्व द्रव्योकी सर्व पर्यायोको सदाकाल एकसा जानता रहता है। चारो ज्ञानोमे क्रमपना व अनित्यपना व अल्प विषयपना होनेका कारण यही है कि वे ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमसे होते हैं, जब कि केवलज्ञान सर्व ज्ञानावरणीयके क्षयसे होता है। इसलिये यही ज्ञान क्षायिक है। जब चारो ज्ञानोका विषय अल्प है तब वे सर्वगत नही होसक्ते, वह केवलज्ञान ही है

जो सर्व पदार्थोंको एक काल जानता है इससे सर्वगत या सर्व-व्यापी है।

केवलज्ञानके इस महात्म्यको जानकर हमको उसकी प्राप्तिके लिये शुद्धोपयोगरूप साम्यभावका अभ्यास करना चाहिये। तथा यह निश्चय रखना चाहिये कि इन्द्रियाधीन ज्ञानवाला कभी सर्वज्ञ नही होसक्ता। जिसके अतीन्द्रिय स्वाभाविक प्रत्यक्ष ज्ञान होगा वही सर्वज्ञ है ॥ ५० ॥

तेक्कालरिग्च्चविसमं सयलं सव्वत्थसंभवं चित्तं ।
जुगवं जाणदि जोण्हं अहो हि णाणस्स माहप्पं ॥५१॥

त्रैकाल्यनित्यविषम सकल सर्वत्रसभव चित्रम् ।
युगपज्जानाति जैनमहो हि ज्ञानस्य माहात्म्यम् ॥५१॥

अर्थः—इस गाथामे आचार्यने और भी केवलज्ञानके गुणानुवाद गाकर अपनी अकाट्य श्रद्धा केवलज्ञानमे प्रगट करी है। और यह समझाया है कि लोकालोकमे विचित्र पदार्थ हैं तथा उनकी तीन काल सम्बन्धी अवस्थाए एक दूसरेसे भिन्न हुआ करती हैं उन सर्वको एक कालमे जैसा का तैसा जो जान सक्ता है उसको ही केवलज्ञान कहते है। तथा यह केवलज्ञान वह ज्ञान है जिसको जैन शासनमे प्रत्यक्ष, शुद्ध, स्वाभाविक तथा अतीन्द्रिय ज्ञान कहते हैं। जिसके प्रगट होनेके लिये व काम करनेके लिये किसी अन्यकी सहायताकी आवश्यक्ता नही है। न वह इन्द्रियोंके आश्रय है और न वह पदार्थोंके आलम्बनमें होता है, किन्तु हरएक आत्मामे शक्तिरूपसे विद्यमान है। जिसके ज्ञानावरणका पूर्ण क्षय हो जाता है। उसीके ही यह प्रकाशमान हो जाता है। जब प्रकाशित हो जाता है फिर कभी मिटता नही या कम होता नही। इसी ज्ञानके धारीको सर्वज्ञ कहते है। परमात्माकी बडाई इसी

निर्मल ज्ञानसे है। इसी हीके कारणसे किसी वस्तुके जाननेकी चिंता नही होती है। इसीसे यही ज्ञान सदा निराकुल है। इसीसे पूर्ण आनन्दके भोगमे सहायी है । ऐसे केवलज्ञानकी प्रगटता जैनसिद्धातमे प्रतिपादित स्याद्वाद नयके द्वारा आत्मा और अनात्माको समझकर भेदज्ञान प्राप्त करके और फिर लौकिक चमत्कारोकी इच्छा या ख्याति, लाभ, पूजा आदिकी चाह छोडकर अपने शुद्धात्मामे एकाग्रता या स्वानुभव प्राप्त करनेमे होती है। इसलिये स्वहित वाछकको उचित है कि सर्व रागादि विकल्प जालोको त्याग कर एक चित्त हो अपने आत्माका स्वाद लेकर परमानदी होता हुआ तृप्ति पावे ।

इस प्रकार केवलज्ञान ही सर्वज्ञपना है ऐसा कहते हुए गाथा एक, फिर सर्व पदार्थोंको जो नही जानता है वह एकको भी नहीं जानता है ऐसा कहते हुए दूसरी, फिर जो एकको नही जानता है वह सबको नही जानता है ऐसा कहते हुए तीसरी, फिर क्रमसे होनेवाले ज्ञानमे सर्वज्ञ नही होता है ऐसा कहते हुए चौथी, तथा एक समयमे सर्वको जाननेसे सर्वज्ञ होता है ऐसा कहते हुए पाचमी इस तरह सातवे स्थलमे पाच गाथाए पूर्ण हुई ।

ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु।
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो ॥५२॥

नापि परिणमति न गृह्णाति उत्पद्यते नैव तेष्वर्थेषु ।
जानन्नपि तानात्मा अबन्धकस्तेन प्रज्ञप्त. ॥५२॥

अर्थ —इस गाथामे आचार्यने बताया है कि केवलज्ञान या शुद्ध ज्ञान या वीतराग ज्ञान बधका कारण नही है। वास्तवमे ज्ञान कभी भी बधका कारण नही होता है चाहे वह मति श्रुत

ज्ञान हो या अवधि, मन पर्ययज्ञान हो या केवलज्ञान हो। ज्ञानके साथ जितना मोहनीय कर्मके उदयसे राग, द्वेप या मोहका अधिक या कम अश कलुपपन या विकार रहता है वही कार्माण वर्गणारूपी पुग्दलोको कर्मववरूप परिणमावनेको निमित्त कारण-रूप है। शरीरपर आई हुई रज शरीरपर चिकनई होनेसे ही जमती है वैसे ही कर्मरज आत्मामे मोहकी चिकनई होनेपर ही बधको प्राप्त होती है।

वास्तवमे केवलज्ञानको रोकनेमे प्रवल कारण मोह ही है। यही उपयोगकी चचलता रखता है। इसीके उद्वेगके कारण आत्मामे स्थिरतारूप चारित्र नही होता है जिस चारित्रके हुए विना ज्ञाना-वरणीयका क्षय नही होता है। जिसके क्षयके विना केवलज्ञानका प्रकाश नही पैदा होता है। आत्माका तथा अन्य किसी भी द्रव्यका स्वभाव पर द्रव्यरूप परिणमनेका नही है। हरएक द्रव्य अपने ही गुणोमे परिणमन करता है–अपनी ही उत्तर अवस्थाको ग्रहण करता है और अपनी ही उत्तर पर्यायको उत्पन्न करता है। सुवर्णसे सुवर्णके कुडल वनते है, लोहेसे लोहेके साकल व कुडे वनते है। सुवर्णसे लोहेकी और लोहेसे सुवर्णकी वस्तुए नही वन सकती है। जव एक सुवर्णकी डलीसे एक मुद्रिका वनी तव सुवर्ण स्वय मुद्रिका रूप परिणमा है, सुवर्णने स्वय मुद्रिकाकी पर्यायोको ग्रहण किया है तथा सुवर्ण स्वय मुद्रिकाकी अवस्थामे पैदा हुआ है। यह दृष्टात है। यही वात दृष्टातमे लगाना चाहिये। स्वभावसे आत्मा दीपकके समान स्वपरका देखने जाननेवाला है। यह सदा देखता जानता रहता है अर्थात् वद सदा इस ज्ञप्तिक्रियाको करता रहता है–रागद्वेप मोह करना उसका स्वभाव नही है। शुद्ध केवलज्ञान-मे मोहनीयकर्मके उदयका कुछ भी सम्वन्ध नही है इसीसे वह

निर्विकार है और वध रहित कहा गया है। जहां इन्द्रिय तथा मनद्वारा अल्पज्ञान होता है वहा जितना अंश मोहका उदय होता है उतनी ही ज्ञानमे मलीनता होजाती है, मलीनता होनेका भाव यही लेना चाहिये कि आत्मामे एक चारित्र नामका गुण है उसका विभाव रूप परिणमन होता है। जब मोहका उदय नही होता है तब चारित्र गुणका स्वाभाव परिणमत होता है। इस परिणमनकी जातिको दिखलाना बिलकुल दुष्कर कार्य है। पुद्गलमे कोई ऐसा दृष्टात नही मिल सक्ता तो भी आचार्योंने जहां तहा यही दृष्टात दिया है कि जैसे काले नीले, हरे, लाल डाकके निमित्तसे स्फटिक मणिकी स्वच्छता मे काला, नीला, हरा व लाल दग रूप परिणमन होजाता है वैसे मोह कर्मके उदयसे आत्माका उपयोग या चारित्र गुण क्रोधादि भाव परिणत होजाता है। ऐसे परिणमन होते हुए भी जैसे स्फटिक किसी वर्ण रूप होते हुए भी वह वर्णपना स्फटिकमे लाल कृष्ण आदि डाकके निमित्तसे झलक रहा है स्फटिकका स्वभाव नहीं है, ऐसे ही क्रोध आदि भावपना क्रोधादिक कपायके निमित्तसे उपयोगमे झलक रहा है क्रोधादि आत्माका स्वभाव नही है। परके निमित्तसे होनेवाले भाव निमित्तके दूर होनेपर नही होते हैं। जबतक मोहके उदयका निमित्त है तबतक बन्द भी है। जहा निमित्त नही रहा वहा कर्मका बध भी नही होता है इसीसे शुद्ध केवलज्ञानीको वध रहित कहा गया है। तात्पर्य्य यह है कि हम अल्पज्ञानियोंको भी सम्यक् दृष्टिके प्रतापसे जगत्को उनके स्वरूप तथा परिवर्तन रूप देखते रहना चाहिये तथा कर्मोंके उदयसे जो दुःख सुखरूप अवस्था अपनी हो अथवा दूसरोंकी हो उनको भी ज्ञाता दृष्टारूप ही देख जान लेना चाहिये उनमे अपनी समताका नाश न करना चाहिये। जो सम्यग्ज्ञानी तत्त्वविचारके अभ्यासमे कर्मोंके उदयमे

विपाकविचय धर्मध्यान करते हैं, उनके पूर्वके उदयमे आए कर्म अधिक परिमाणमे झड जाते है और नवीन कर्म बहुत ही अल्प बंध होते हैं जिसको सम्यग्दृष्टियोंकी महिमाके कथनमे अवध ही कहा है। समभाव सदा गुणकारी है। हमे शुद्धोपयोगरूप साम्यभावका सदा ही अनुभव करना चाहिये। यही बंधकी निर्जरा, संवर तथा मोक्षका साधक और केवलज्ञानका उत्पादक है। वास्तवमे ज्ञान ज्ञानरूप ही परिणमता है, अपनी ज्ञान परिणमतिको ही ग्रहण करता है तथा ज्ञानभावरूप ही पैदा होता है। यह मोहका महात्म्य है जिससे हम अज्ञानी जानते हुए भी किसीमे रागकर उसको ग्रहण करते व किसीसे द्वेषकर उससे घृणा करते व उसे त्याग करते हैं। ज्ञानमे न ग्रहण है न त्याग है। मोह प्रपचके त्यागका उपाय आत्मानुभव है यही कर्तव्य है। इस तरह रागद्वेष मोह रहित होनेसे केवलज्ञानियोंके बंध नहीं होता है ऐसा कथन करते हुए ज्ञान प्रपचकी समाप्तिकी मुख्यता करके एक सूत्र द्वारा आठवा स्थल पूर्ण हुआ ॥ ५२ ॥

तस्स णमाइं लोगो, देवासुरमणुअरायसंबंधो ।
भत्तो करेदि णिच्चं, उवजुत्तो तं तहा वि अहं ॥५२॥

तस्य नमस्या लोक देवासुरमणुष्यराजसम्बन्ध ।
भक्त करोति नित्य उपयुक्त न तथा हि अह ॥५२॥

अर्थ—हम अल्पज्ञानी बंध करनेवाले जीवोंके लिये वही आत्मा आदर्श हो सकता है जो सर्वज्ञ हो और वीतरागताके कारण अवधक हो उनको अर्हन्त तथा सिद्ध कहते है। उनहीमे भक्ति व उनकी पूजा व उनहीको नमस्कार। जगतमे जो बडे २ पुरुष है जैसे इन्द्र चक्रवर्ती आदि वे बडे भावमे व अनेक प्रकार उद्यम करके करते रहते हैं—उनकी साक्षात् पूजा करनेको विदेह

क्षेत्रोंमे स्थित उनके समवशरणमे जाते हैं। तथा अनेक अकृत्रिम तथा कृतिम चैत्यालयोंमे उनके मनोज्ञ वीतरागमय विम्बोंकी भक्ति करते है क्योकि आदर्श स्वभावमे विनय तथा प्रेम भक्त पुरुषके भावको दोप रहित तथा गुण विकाशी निर्मल करनेवाला है इसीसे श्रीआचार्य कुदकुद भगवान कहते है कि मैं भी ऐसे ही सर्वज्ञ भगवानकी बारम्बार भक्ति करके तथा उद्यम करके नमस्कार करता हू—क्योकि जैसे गणधरादि मुनि, देवेंद्र तथा सम्पत्ती चक्रवर्ती आदि उस आदर्श रूप सर्वज्ञपदके अभिलाषी है वैसे मैं भी उस पदका अभिलाषी हू। इसीसे ऐसे ही आदर्श रूपको नमन व उसका स्मरण करता हू। ऐसा ही हम सर्व परमसुख चाहनेवालों को करना योग्य है। यहा आचार्यने यह भी समझा दिया है कि मोक्षार्थीको ऐसे ही देवको देव मानकर पूजना तथा वन्दना चाहिये। रागद्वेप सहित तथा अल्पज्ञानीको कभी भी देव मानकर पूजना न चाहिये।

इस तरह आठ स्थलोंके द्वारा बत्तीस गाथाओंसे और उसके पीछे एक नमस्कार गाथा ऐसे तेतीस गाथाओंसे ज्ञानप्रपंच नामका तीसरा अतर अधिकार पूर्ण हुआ। आगे सुखप्रपंच नामके अधिकारमे अठारह गाथाए है जिसमे पाच स्थल हैं उनमेसे प्रथम स्थलमें "अस्थि श्रुत्त" इत्यादि अधिकार गाथा सूत्र एक है उसके पीछे अतीन्द्रिय ज्ञानकी मुख्यतासे 'जे पेच्छदो' इत्यादि सूत्र एक है। फिर इद्रियजनित ज्ञानकी मुख्यतासे 'जीवो स्वय अभुत्तो, इत्यादि गाथाए चार है फिर अभेद नयसे केवलज्ञान ही सुख है ऐसा कहते हुए गाथाए ४ है। फिर इद्रिय सुखको कथन करते हुए गाथाए आठ हैं। इनमे भी पहले इद्रिय सुखको दु ख रूप स्थापित करनेके लिये 'मणुआसुरा' इत्यदि गाथाएं दो हैं। फिर मुक्त आत्माके देह न होनेपर भी सुख है इसवातको बतानेके

लिये देह सुखका कारण नही है इसे जनाते हुए "पय्या इट्ठे विसये" इत्यादि सूत्र दो है। फिर इन्द्रियोके विषय भी सुखके कारण नहीं है ऐसा कहते हुए 'तिमिरहरा' इत्यादि गाथाए दो है फिर सर्वज्ञको नमस्कार कहते हुए 'तेजो दिट्ठि' इत्यादि सूत्र दो हैं ? इस तरह पाच अतर अधिकारमे समुदाय पातनिका है ॥२॥

अत्थि अमुत्तं, मुत्तं अदिंदियं इंदियं च अत्थेसु।
णाणं च तहा सोक्खं जं तेसु परं च तं णेयं ॥५३॥

अस्त्यमूर्तं मूर्तमतीन्द्रियमैन्द्रिय चार्थेषु।
ज्ञान च तथा सौख्य यत्तेषु पर च तत् ज्ञेयम् ॥५३॥

अर्थ—इस गाथामे आचार्यने इस प्रकरणका प्रारम्भ करते हुए वताया है कि सच्चा अविनाशी तथा स्वाधीन सुख अतीन्द्रिय सुख है जो आत्माका ही स्वभाव है और आत्मामे आप ही अपनी सन्मुखतामे अनुभवमे आता है। यही सुख अमूर्तीक है क्योकि अमूर्तीक आत्माका यह स्वभाव है। शुद्ध आत्मामे इस सुखका निरतर विकाश रहता है। जिस तरह केवलज्ञान अतीन्द्रिय तथा अमूर्तीक होनेसे आत्माका स्वभाव आत्माके आधीन है ऐसे ही अतीन्द्रिय सुखको जानना चाहिये। जैसे केवलज्ञानकी महिमा पहले कह चुके है वैसे अव अतीन्द्रिय आत्मसुखकी महिमाको जानना चाहिये क्योकि ये ज्ञान और सुख दोनो निज आत्माकी सम्पत्ति है। इन पर अपना ही स्वत्व है। इनकी प्रगटताके लिये किसी पर मूर्तीक पुग्दलकी सहायताकी आवश्यकता नही है इसीसे ये दोनो अमूर्तीक और इद्रियोकी आधीनतासे रहित है। इनके विपरीत जो ज्ञान क्षयोपशमिक है वह इन्द्रियो तथा मनके आलम्बनसे पैदा होता है सो मूर्तीक है क्योकि अशुद्ध है—कर्मसहित आत्मामे होता है। कर्म रहित आत्मामे यह

इन्द्रियजन्य ज्ञान नहीं होता है- यह अमूर्तीक आत्माका स्वभाव नहीं है। कर्मसहित संसारी मूर्तीकसा झलकने वाला आत्मा ही इन्द्रियजन्य ज्ञानको रखता है-तैसे ही जो इन्द्रिय जनित सुख है वह भी मूर्तीक है। क्योंकि वह सुख मोह भावका भोगमात्र है जो मोहभाव मूर्तीक मोहनीय कर्मके उदयसे हुआ है इसलिये मूर्तीक है तथा अमूर्तीक शुद्ध आत्माका स्वभाव नहीं है। क्योंकि यह इन्द्रियजनित ज्ञान और सुख दोनों इन्द्रियोंके बलके आधीन, बाहरी पदार्थोंके मिलनेके आधीन तथा पुण्य कर्मके उदयके आधीन हैं इसलिये पराधीन हैं विनाशवान है इसी लिये त्यागने योग्य है। ये इन्द्रियजन्य ज्ञान और सुख संसारके बढ़ानेवाले हैं। जबकि अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख मोक्ष स्वरूप हैं, अविनाशी हैं तथा परमशांति पैदा करनेवाले हैं- ऐसा जानकर अतींद्रिय सुखकी ही भावना करनी योग्य है। इस प्रकार अधिकारकी गाथासे पहला स्थल गया ॥२३॥

जं पेच्छदो अमुत्तं, मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं ॥
सकलं सगं च इदरं, तं णाणं हवदि पच्चक्खं ॥५४॥

यत्प्रेक्ष्यमाणस्यामूर्तं मूर्तेष्वतीन्द्रियं च प्रच्छन्नम् ।
सकलं स्वकं च इतरत् तद्ज्ञानं भवति प्रत्यक्षम् ॥५४॥

अर्थ :—इस गाथामें आचार्यने अनन्त अतीन्द्रिय सुखके लिये मुख्यतासे कारण रूप तथा एक समयमें तिष्ठनेवाले प्रत्यक्ष केवलज्ञानका वर्णन इसी लिये किया है कि उस स्वाधीन ज्ञानके होते हुए किसी जानने योग्य पदार्थके जाननेकी चिंता नहीं होती है। न वहां किसीको ग्रहण या त्यागका विकल्प होता है। जहां चिंता तथा विकल्प है वहां निराकुलता नहीं होती है। जहां निश्चित व निर्विकल्प अवस्था रहती है वहां कोई प्रकार आकुलता नहीं होती है। अतीन्द्रिय आनन्दके भोगनेमें इस निराकुलताकी

आवश्यक्ता है। यह केवलज्ञान अपने आत्माके तथा पर आत्माओंके तथा अन्य सर्व द्रव्योंके तीन कालवर्ती द्रव्य क्षेत्र काल भावोंको जानता है। जो ज्ञान पाच इन्द्रिय तथा मनके द्वारा होना असभव है वह सर्व ज्ञान केवलज्ञानीको प्रत्यक्ष होता है वह मूर्त और अमूर्त सर्व द्रव्योंको जानता है तथा इन्द्रियोंके अगोचर पुद्गलके परमाणु तथा उनके अविभाग प्रतिच्छेद आदिको तथा द्रव्यादि चतुष्टयमे तो अति गुप्त पदार्थोंको भी प्रत्यक्ष जानता है। द्रव्यमे तो कालाणु आदि गुप्त हैं, क्षेत्रमे अलोकाकाशके प्रदेश, कालमे अतीत, भविष्य व वर्तमान समयकी पर्यायें भावमे अविभाग प्रतिच्छेद रूपी षट् प्रकार हानिवृद्धि रूप सूक्ष्म परिणमन प्रच्छन्न हैं। केवलज्ञानीको ये सब ज्ञेय पदार्थ हाथमे रक्खे हुए स्फटिककी तरह साफ २ दिखते हैं और विना किसी क्रमसे एक काल दिखते हैं जैसा स्वामी समंतभद्रने अपने स्वयम्भू स्तोत्रमे कहा है —

बहिरंतरप्युभयथा च करणमविघातिनार्थकृत्।
नाथ युगपदखिलं च सदा, त्वमिदं तलामलकवद्विवेदिथ॥१२८॥

भाव यह है कि हे नेमिनाथ भगवान! आप एक ही समयमे सम्पूर्ण इस जगतको सदा ही इस तरह जानते रहते हो जिस तरह हाथकी हथेली पर रक्खा हुआ स्फटिक स्पष्ट २ भीतर बाहरसे जाना जाता है—यह महिमा आपके ज्ञानकी इसीलिये हैं कि आपका ज्ञान अतीन्द्रिय है, उसके लिये इन्द्रिय तथा मन दोनो अलग २ या मिल करके भी कुछ कार्यकारी नहीं है और न वे होकरके भी ज्ञानमे कुछ विघ्न करते हैं। केवलज्ञानीका उपयोग इन्द्रिय तथा मन द्वारा काम नही करता है। आत्मस्थ ही रहता है। ऐसे अतीन्द्रिय ज्ञानी परमात्माको ही निराकुल आनद सभव है ऐसा जान इस शुद्ध स्वाभाविक ज्ञानको उपादेय रूप मानके इसकी

प्राप्तिके कारण शुद्धोपयोगरूप साम्यभावका हमको निरतर अभ्यास करना चाहिये । यही तात्पर्य्य है ।।५४।।

जीवो सयं अमुत्तो मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं ।
ओगिण्हित्ता जोग्गं जाणदि वा तं ण जाणादि ।।५५।।

जीव स्वयममूर्तो मूर्तिगतस्तेन मूर्तेन मूर्तम् ।
अवगृह्य योग्य जानाति वा तन्न जानाति ।।५५।।

अर्थ:—यहा इस गाथामे आचार्यने इन्द्रिय तथा मनके सम्बन्धसे होनेवाले सर्वही क्षयोपशमरूप ज्ञानको त्यागने योग्य बताया है क्योकि यह क्षयोपशम ज्ञान असमर्थ है तथा दुःख व आकुलताका कारण है । आत्माका स्वभाव अमूर्तीक है तथा स्वाभाविक व अतीन्द्रिय ज्ञान और सुखका भडार है । जिससे आत्मा सर्वज्ञ व पूर्णानन्दी सदा रहता है । ऐसा स्वभाव होनेपर भी अनादि कालसे इस स्वभाव पर कर्मोका आवरण पडा हुआ है । जिससे आत्माका एक एक प्रदेश अनत कर्म वर्गणाओंसे आच्छादित है इस कारण मूर्तिमानसा हो रहा है । और उन्हीं कर्मोके उदयके कारण यह मूर्तीक शरीरको धारण करता है और उसमे अपने २ नाम कर्मके उदयके अनुसार कम व अधिक इन्द्रिय तथा नो इन्द्रियोको बनाता है और उनके द्वारा ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमके अनुसार क्रम पूर्वक कुछ स्थूल मूर्तीक द्रव्योंको जानता है । बहुतसे मूर्तीक द्रव्य जो सूक्ष्म व दूरवर्ती हैं उनका ज्ञान नही होता है अथवा किसी भी मूर्तीक द्रव्यको किसी समय नही जान सक्ता है । जैसे निद्रा व मूर्छित अवस्थामे तथा चक्षु प्रकाशकी सहायता विना नही जान सक्ती । अन्य चार इन्द्रियां विना पदार्थोको स्पर्श किये नही जान सक्ती । मन बहुत थोडे पदार्थोंको सोच सक्ता है । क्योकि इस ज्ञानमे बहुत थोड़ा विषय

मालूम होता है इस कारण विशेष जाननेकी आकुलता रहती है, तथा एक दफे जान करके भी कालान्तर भूल जाता है। और जान करके भी उनमे राग द्वेष कर लेता है। जाने हुए पदार्थसे मिलना व उसको भोगना चाहता है–उनके वियोगसे कष्ट पाता है। पदार्थका नाश होजाने पर और भी दुखी होजाता है। इसलिये यह इन्द्रियज्ञान अल्प होकर भी आकुलताका ही कारण है-जहातक पूर्ण ज्ञान न हो वहा तक पूर्ण निराकुलता नही हो सक्ती है। वडे२ देवगण पाचो इन्द्रियोके द्वारा एक साथ जाननेकी इच्छा रखते हुए भी क्रमसे एक २ इन्द्रियके द्वारा जाननेसे आकुलित रहते हैं। प्रयोजन यह है कि इन्द्रियज्ञानके आश्रयसे जो इन्द्रियसुख होता है वह भी छूट जाता है और अधिक तृष्णाको वढाकर खेद पैदा करता है।

यद्यिपि मति और श्रुतज्ञान मूर्त व अमूर्त पदार्थोको आगमादिके आश्रयसे जानते हैं परन्तु उनके वहुत ही कम विपयको व वहुत ही कम पर्यायोको जानते हैं। अवधि तथा मन पर्ययज्ञान भी क्षयोपशम ज्ञान हैं, अमूर्तीक शुद्ध ज्ञान नही है। ये दोनो भी मूर्तीक पदार्थोके ही कुछ भागको मर्यादा लिये हुए जानते है अधिक न जान सकनेकी असमर्थता इनमे भी रहती है। इत्यादि कारणोसे उपादेय रूप तो एक निज स्वाभाविक केवलज्ञान ही है। इसी लिये इस स्वभावकी प्रगटताका भाव चित्तमे रखकर निरन्तर स्वानुभव का मनन करना चाहिये ॥ ५५ ॥

फासो रसो य गंधो, वण्णो सद्दो य पोग्गला होंति।
अक्खाणं ते अक्खा जुगवं ते णेव गेण्हंति ॥५६॥

स्पर्शो रसश्च गन्धो वर्णः शब्दश्च पुद्गला भवन्ति।
अक्षाणा तान्यक्षाणि युगपत्तान्नैव गृह्णन्ति ॥५६॥

अर्थ—यहांपर आचार्यने इन्द्रियजनित ज्ञानकी निर्बलताको प्रगट किया है और दिखलाया है कि इस कर्मबंध सहित संसारी आत्माकी ज्ञानशक्तिके ऊपर ऐसा आवरण पड़ा हुआ है जिसके कारणसे इसको क्षयोपशम इतना कम है कि पाचों इन्द्रियोंके एक शरीरमें रहते हुए भी यह क्षयोपशमिक ज्ञान अपने उपयोगसे एक समयमें एक ही इन्द्रियके द्वारा काम कर सक्ता है। जब स्पर्शसे छूकर जानता है तब स्वादने आदिका काम नहीं कर सक्ता, जब स्वाद लेता है तब अन्य स्पर्शादि नहीं कर सक्ता है। उपयोगकी चचलता और पलटन इतनी जल्दी होती है कि हमको पता नहीं चलता है कि इनका काम भिन्न २ समयमें होता है। हमको कभी कभी यह भ्रम होजाता है कि हमारी कई इन्द्रियें एक साथ काम कर रही हैं। जैसे काककी दो आखें होनेपर भी पुतली एक है वह इतनी जल्दी पलटती है कि हमको उसकी दो पुतलियों का भ्रम हो जाता है। उपयोग पाच इन्द्रिय और नो इन्द्रिय मन इन छः सहायकोंके द्वारा एक साथ काम नहीं कर सक्ता, जब मनसे विचारता है तब इन्द्रियोंसे ग्रहण बन्द हो जाता है। यद्यपि यह भिन्न २ समयमें अपने २ विषयको ग्रहण करती है तथापि यह सामनेके कुछ स्थूल विषयको जान सक्ती हैं न यह सूक्ष्मको जान सक्ती और न दूरवर्ती पदार्थोंका जान सक्ती हैं। इन इन्द्रियोंका विषय बहुत ही अल्प है जब कि केवलज्ञानका विषय एक साथ सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थोंको भिन्न २ हरप्रकारसे जान लेनेका हैं। इन इन्द्रियोसे जाना हुआ विषय बहुत कालतक धारणामें रहता नहीं, भुला दिया जाता है। जबकि केवलज्ञान सदा काल सर्व ज्ञेयोंको जानता रहता है। इन्द्रियोंके द्वारा प्राप्त ज्ञान अपूर्ण, क्रमवर्ती तथा विस्मरणरूप होनेसे न जानी हुई बातको जाननेकी आकुलता का कारण है। जिसको अल्प ज्ञान होता है

वह अधिक जानना चाहता है। अविक ज्ञान न मिलनेके कारण जबतक वह न हो तवतक वह व्यक्ति चिंता व दु ख किया करता है। जबकि केवलज्ञान सम्पूर्ण व अक्रम ज्ञान होनेसे पूर्णपने निराकुल है। इन्द्रियजनित ज्ञानमे मोहका उदय होनेसे किसी वस्तुसे राग व किसीसे द्वेष हो जाता है। । अतींद्रिय केवलज्ञान सर्वथा निर्मोह है इससे रागद्वेष नही होता—केवलज्ञानी समताभावमे भीगा रहता है। इन्द्रियजनित ज्ञानके साथ रागद्वेष होनेसे कर्मका वन्ध होता है। जवकि केवलज्ञानमे वीतरागता होनेसे वध भी नही होता। इस तरह इन्द्रियजनित ज्ञानको निर्वल, तुच्छ व पराधीन जानकर छोड़ना चाहिये और केवलज्ञानको ग्रहण योग्य मानके उसकी प्रगटताके लिये आत्मानुभवरूप आत्मज्ञानको सदा ही भावना चाहिये ॥५६॥

परदव्वं ते अक्खा, णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा।
उवलद्धं तेहि कहं पच्चक्खं अप्पणो होदि ॥ ५७ ॥

परद्रव्य तान्यक्षाणि नैव स्वभावा इत्यात्मनो भणितानि।
उपलव्ध तै कथ प्रत्यक्षमात्मनो भवति ॥ ५७ ॥

अर्थ:—इस गाथामे आचार्यने इन्द्रियजनित ज्ञानकी असमर्थताको और भी स्पष्ट किया है कि इन्द्रियजनित ज्ञान आत्माका स्वाभाविक ज्ञान नही है अर्थात् जो जो पदार्थ इन्द्रियोके तथा मनके द्वारा जाने जाते हैं वे सब परोक्ष है अर्थात् आत्माके साक्षात् स्वभाविक ज्ञानके विषय उस इद्रिय ज्ञानके समय न होनेसे वे पदार्थ आत्माको प्रत्यक्ष रूपसे झलके ऐसा नही कहा जासक्ता। जिन पदार्थोंको आत्मा दूसरेके आलम्वन विना अपने स्वभावसे जाने वे ही पदार्थ आत्माके प्रत्यक्ष है ऐसा कहा जासक्ता है इसीलिये आत्माके स्वाभाविक केवलज्ञानको वास्तविक प्रत्यक्ष

ज्ञान कहते हैं। और जो ज्ञान इन्द्रियो और मनके द्वारा होता है उसको परोक्ष ज्ञान कहते है। यहा हेतु बताया है कि ये इन्द्रियें आत्माका स्वभाव नही है क्योकि शुद्ध आत्मामे जो अपने स्वाभाविक अवस्यामे है इन्द्रियोका बिलकुल भी अस्तित्व नहीं हैं न द्रव्य इन्द्रियें हैं न भाव इन्द्रियें हैं इसलिये इनकी उत्पत्तिका कारण आत्मासे भिन्न पुग्दल द्रव्य है। पुग्दल वर्गणामे इन्द्रियोके व मनके आकार शरीरमें बनते हैं तथा जो आत्माके प्रदेश इन्द्रियोके आकार परिणमते हैं वे भी शुद्ध नही हैं, कर्मोके आवरणने मलीन हो रहे हैं तथा मतिज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमसे जो भाव इन्द्रिय ज्ञान प्रगट है उसमे भी केवलज्ञानावरणीयका उदय है इसलिये वह ज्ञान शुद्ध स्वभाव नही है किन्तु अशुद्ध विभाव रूप है। इसलिये वह भी निश्चयमे पौग्दलिक है। पराधीन इद्रिय ज्ञानसे जाना हुआ विषय भी बहुत स्थूल व बहुत अल्प होता है तथा क्रमवर्ती होता है। ऐसा आत्माका स्वाभाविक ज्ञान नही है इसलिये इद्रिय और मनसे पैदा होनेवाले ज्ञानको अपने निज आत्माका शुद्ध स्वभाव न मानकर उस ज्ञानको त्यागने योग्य जानकर और प्रत्यक्ष शुद्ध स्वाभाविक केवलज्ञानको उपादेय रूप जानकर उसकी प्रगटताके लिये स्वसवेदन ज्ञान रूप स्वात्मानुभव अर्थात् शुद्धोपयोगमई साम्यभावका अभ्यास करना चाहिये। शुद्ध निश्चय नयके द्वारा भेदज्ञान पूर्वक अपने शुद्ध स्वभावको पुग्दलादि द्रव्योसे भिन्न जानकर उसीमेसे श्रृद्धा रूप रुचि ठानकर उसीके स्वाद लेनेमे उपयोग रूप परिणतिको रमाना चाहिये यह स्वानुभव आत्माके कर्ममलको काटनेवाला है तथा आत्मानदको प्रगटानेवाला है और यही केवलज्ञानी होनेका मार्ग है ॥ ५७ ॥

जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खं ति भणिदमट्ठेसु ।
जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं ॥५८॥

यत्परतो विज्ञान तत्तु परोक्षमिति भणितमर्थेषु।
यदि केवलेन ज्ञात भवति हि जवेन प्रत्यक्षम् ॥५८॥

अर्थ —इस गाथामें भी भगवान कुदकुदाचार्यने इन्द्रिय ज्ञानकी निर्बलता दिखाई है और यह बताया है कि इन्द्रियज्ञान परोक्ष है इसलिये पराधीन है जब कि केवलज्ञान बिलकुल प्रत्यक्ष है और स्वाधीन है आत्माका स्वभाव केवलज्ञानके प्रकाशमे जब अन्य किसी अंतरग व बहिरग निमित्त कारणकी जरूरत नही है तब इद्रियज्ञानमे बहुतसे अतरग बहिरग कारणोकी आवश्यक्ता है। अतरग कारणोमे प्रथम तो ज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम इतना चाहिये कि जितनी इन्द्रियोकी रचना शरीरमे बनी हुई हैं उन इद्रियोंके द्वारा जाननेका काम किया जासके। दूसरे जिस इद्रिय या मनमे जानना है उस ओर आत्माके उपयोगकी परिणति जानी चाहिये। यदि उपयोग मूर्छित है या किसी एक वस्तुमे लवलीन है तो दूसरी इद्रियो द्वारा जाननेका काम नही करसक्ता। एक मनुष्य किसी वस्तुको देखनेमे उपयुक्त होता हुआ कर्ण इद्रिय द्वारा सुननेका काम उस समयतक नही करसक्ता जबतक उपयोग चक्षु इद्रियसे हटकर कर्ण इद्रियकी तरफ तन आवे। तीसरे बहुतसे विषयोके जाननेमे पूर्वका स्मरण या सस्कार भी आवश्यक होता है। यदि कभी देखी, सुनी व अनुभव की हुई वस्तु न हो तो हम इद्रियोसे ग्रहण करते हुए भी उसका नाम तथा गुण नही समझ सकेंगे। इसी तरह बहुतसे बहिरङ्ग कारण चाहिये जैसे इन्द्रियोका अस्वस्थ व निद्रित व मूर्छित न होना, पदार्थोका सम्बन्ध, प्रकाशका होना आदि इत्यादि अनेक कारणोका समूह मिलनेपर ही इन्द्रियजनित ज्ञान होता है। इसी तरह शास्त्रज्ञान भी पराधीन है। श्रुतज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम तथा उपयोगका सन्मुख होना अतरग कारण, और शास्त्र,

स्थान, प्रकाश, अध्यापक आदि वहिरग कारण चाहिये। यद्यपि अवधि मन पर्यय ज्ञान साक्षात् इन्द्रिय तथा मन द्वारा नही होते हैं तथापि ये भी स्वाभाविक ज्ञान नही हैं। इनमे भी कुछ पराधीन. ताए है। जिनका जितना अवधि ज्ञानावरणीय तथा मन पर्यय ज्ञानावरणीयका क्षयोपशम होता है उतना ज्ञान तव होता है जब उपयोग किसी विशेप पदार्थकी तरफ इन दोनो ज्ञानोकी शक्तिसे सन्मुख होता है।

सव तरह स्वाधीन आत्माका स्वाभाविक एक ज्ञान केवल-ज्ञान है। इसलिये यही उपादेय है, और इसी ज्ञानकी प्राप्तिके लिये हमको शुद्धोपयोगरूप साम्यभावका निरतर अध्याप्त करना चाहिये यही इस मुमुक्षु आत्माको परमानदका देनेवाला है।

इसतरह त्यागने योग्य इन्द्रियजनित ज्ञानके कथनकी मुख्यता करके चार गाथाओसे तीसरा स्थल पूर्ण हुआ ॥५८॥

जादं सयं समंत्तं, णाणमणंतत्थवित्थिडं विमलं।
रहिदं तु ओग्गहादिहिं, सुहं ति एगंतियं भणिदं ॥५९

जात स्वय समस्त ज्ञानमनन्तार्थविस्तृत विमलम्।
रहित त्ववग्रहादिभि. सुखमिति ऐकान्तिकं भणितम् ॥५९॥

अर्थ :—इस गाथामे आचार्यने वताया है कि जहां निर्मल शुद्ध प्रत्यक्षज्ञान प्रगट हो जाता है वही नित्य विना किसी अन्तरके अपने ही शुद्ध आत्माका साक्षात् अवलोकन होता है। वैसा दर्शन तथा ज्ञान इस आत्माका उस समय तक अपने आपको नही होता है जब तक केवल दर्शनावरणीय तथा केवल ज्ञानावरणीयका उदय रहता है। केवलज्ञान होनेके पहले परोक्ष भाव श्रुतज्ञान रूप स्वसवेदन ज्ञान होता है इस कारण केवलज्ञानीके जैसा साक्षात् अनुभव नही होता है। जव केवलज्ञानके प्रगट होनेसे आत्माका

साक्षात्कार हो जाता है तब यह आत्मा अपने सब गुणोका विलास करता है–उन गुणोमे सुखगुण प्रधान है–ज्ञानके साथ साथ ही अतीद्रिय स्वाभाविक शुद्ध सुखका अनुभव होता है। इस कारण यहा अभेद नयसे ज्ञानको ही सुख कहा है। जहा अज्ञानके कारण खेद व चिंता व किंचित् भी अशुद्धता होती है वहा निराकुलता नही पैदा होती है। केवलज्ञान ऐसा उच्चतम व उत्कृष्ट ज्ञान है कि इसके प्रकाशमे आकुलताका अंश भी नही हो सक्ता है, क्योकि एक तो यह पराधीन नही है अपनेमे ही प्रगट हुआ है। दूसरे यह पूर्ण है क्योकि सर्व ज्ञानावरणका क्षय हो गया है। तीसरे यह सर्व ज्ञेयोको एक समयमे जाननेवाला है, अब कोई भी जानने योग्य पर्याय ज्ञानसे बाहर नही रहजाती है। चौथे यह शुद्ध है–स्पष्टपने झलकनेवाला है। पाचवे यह क्रमसे न जानकर सर्वको एक समयमे एक साथ जानता है। ज्ञान सूर्य्यके प्रकाशमे कोई भी अंश अज्ञानका नही रहसक्ता है। इस कारण मात्र ज्ञान ही स्वय निराकुल है, खेद रहित है, बाधा रहित है, और यहा तो ज्ञानगुणसे भिन्न एक सुख गुण और भी कल्लोल कर रहा है। इसलिये अभेद नयसे ज्ञानको सुख कहा है क्योकि जिन आत्मप्रदेशोमे ज्ञान है वही सुख गुण है। आत्मा अखड एक है। वही भेदनयसे ज्ञानमय, सुखमय, वीर्य्यमय, चरित्रमय आदि अनेक रूप है। प्रयोजन यह है कि शुद्ध अतीन्द्रिय सुखका लाभ केवलज्ञानके होनेपर नियमसे होता है ऐसा जानकर इस ज्ञानकी प्रगटताके लिये शुद्ध आत्माका अनुभव परोक्ष ज्ञानके द्वारा भी सदा करने योग्य है क्योकि यही स्वानुभवरूपी अग्नि ही कर्मोके आवरणको दग्ध करती है ॥५९॥

जं केवलं ति णाणं, तं सोक्खं परिणमं च सो चेव ।
खेदो तस्स ण भणिदो, जम्हा घादी खयं जादा ॥६०॥

यत्केवलमिति ज्ञान तत्सौख्य परिणमश्च स चैव ।
खेदस्तस्य न भणितो यस्मात् घातीनि क्षय जातानि ॥६०॥

अर्थ :—इस गाथामे आचार्यने अतीन्द्रिय सुखके साथ अविनाभावी केवलज्ञानको सर्व तरहसे निराकुल या खेद रहित वताया है। और यह सिद्ध किया है कि केवलज्ञानकी अवस्थामें खेद किसी भी तरह नही हो सक्ता है। खेदके कारण चार ही हो सक्ते है। जव किसीको देखनेकी वहुत इच्छा है और सवको एक साथ देख न सके क्रम क्रमसे थोडा देखे तव खेद होता है सो यहा दर्शनावरणीय कर्मका नाश होगया इसलिये आत्माके स्वाभाविक दर्शन गुणके विकाशमे कोई वाधक कारण नही रहा जिससे आकुलता या खेद हो। दूसरे जव किसीको जाननेको वहुत इच्छा है और सवको एक साथ जान न सके क्रमक्रमसे थोडा २ जाने तव खेद होता है सो यहा ज्ञानावरणीय कर्मका सर्वथा क्षय हो गया इसलिये आत्माके स्वाभाविक ज्ञान गुणके विकाशमें वाधक कोई कारण नहीं रहा जिससे आकुलता या खेद हो। तीसरे जव किसीमे वहुत कार्य्य करनेको चाह हो परन्तु वीर्य्यकी कमीसे कर न सके तव खेद होता है। सो यहा अतराय कर्मका सर्वथा नाश हो गया इससे आत्माके स्वाभाविक अनतवीर्य्यके विकाशमे कोई कोई वाधक कारण नही रहा जिससे खेद हो। चौथे जव किसीको पुन पुन इच्छाए नाना प्रकारकी हो तथा किसीमे राग व किसीमे द्वेष हो तव आकुलता या खेद होसक्ता है सो यहा सर्व मोहनीय कर्मका नाश होगया है इससे कोई प्रकार क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुवेद, नपुसकवेदरूप कलुषित भाव नही होता है, न कोई इच्छा पैदा होती है। इसतरह चार घातिया कर्मोका उदय आत्मामे खेद पैदा करसक्ता है सो केवलज्ञानी भगवानके चारों घातिया क्षय

होगए इसलिये उनको कोई तरहका खेद नहीं होसक्ता, वे पूर्ण निराकुल है। केवलज्ञानं भी कोई अन्य स्वभाव नही है आत्माका स्वाभाविक परिणमन है इससे वह सुखरूप ही है। इसतरह यह सिद्ध करदिया गया कि केवलज्ञानीको अनत पदार्थोको जानते हुए भी कोई खेद या श्रम नही होता है। ऐसी महिमा केवलज्ञानकी जानकार उसीकी प्राप्तिका यत्न करनेके लिये सम्यभावका आलम्बन करना चाहिये ॥ ६० ॥

णाणं अत्थंतगदं, लोगालोगेसु वित्थडा दिट्ठी ।
णट्ठमणिट्ठं सव्वं, इट्ठं पुण जं तु तं लद्धं ॥ ६१ ॥

ज्ञानमर्थांतगत लोकालोकेषु विस्तृता दृष्टि ।
नष्टमनिष्ट सर्वमिष्ट पूनर्यत्तु तल्लब्धम् ॥ ६१ ॥

अर्थ.—इस गाथामे आचार्य केवलज्ञानके सुख स्वरूपपना किस अपेक्षासे है इसको स्पष्ट करते हैं और यह वात दिखलाते हैं कि ससारमे दुखके कारण अज्ञान और कपायजनित आकुलता है। सो ये दोनो ही वातें केवलज्ञानीके नही होती हैं। आवरणोके नाश होनेसे केवलज्ञान और केवलदर्शन पूर्णपने प्रगट होजाते है जिनके द्वारा सर्व लोक और अलोक प्रत्यक्ष देखा तथा जाना जाता है। इसलिये कोई तरहका अज्ञान नही रहता है—तथा अज्ञानके सिवाय और जो कुछ अनिष्ट था सो भी केवलज्ञानीके नही रहा है। रागद्वेपादि कपाय परिणामोमे विकार पैदा करके आकुलित करते हैं तथा निर्वलता होनेसे खेद होता है सो मोहनीय कर्म और अतराय कर्मोके सर्वथा अभाव होजानेसे न कोई प्रकारका रागद्वेप न निर्वलता जनित खेदभाव ही रहजाता है। आत्माके स्वभावके घातक सव विकार हट गए तथा स्वभावको प्रफुल्लित करनेवाले अनत ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि गुण प्रगट होगए।

अर्थात् अनिष्ट सब चला गया तथा इष्ट सब प्राप्त होगया । केवल-ज्ञानके प्रगट होते ही आत्माका यर्थार्थ स्वभाव जो आत्माको परम हितकारी है सो प्रगट होजाता है । केवलज्ञानके साथ ही पूर्ण निराकुलता रहती है । इस लिये केवलज्ञानको सुखस्वरूप कहा गया है । यद्यपि सुख नामका गुण आत्माका विशेष गुण है और वह ज्ञानसे भिन्न है तथापि यहा शुद्धज्ञान और अतीद्रिय निर्मल सुखके वोध या अनुभवका अविनाभाव सम्बन्ध है इसलिये ज्ञानको ही अभेद नयसे सुख कहा है । प्रयोजन यह है कि विना केवली-ज्ञानकी प्रगटताके अतीद्रिय अनन्त सुख नही प्रगट हो सक्ता हैं । इस लिये जिस तरह वने इस स्वाभाविक केवलज्ञानकी प्रगटताके लिये हमको स्वानुभवका अभ्यास करना चाहिये ।। ६१ ।।

ण हि सद्दहंति सोक्खं, सुहेसु परमंति विगदघादीणं ।
सुणिऊण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति ।।३२।।

न हि श्रद्दधति सौख्य सुखेषु परममिति विगतघातिनाम् ।
श्रुत्वा ते अभव्या भव्या वा तत्प्रतीच्छति ॥ ६२ ॥

अर्थ —इस गाथामे आचार्यने यह वात दिखलाई है कि सच्चा अतीन्द्रिय आत्मीक आनन्द अवश्य चार घातिया रहित केवलज्ञानियोके प्रगट होजाता है इसमें कोई सन्देह न करना चाहिये क्योकि सुख आत्माका स्वभाव है । ज्ञानावरणीयादि चारो ही कर्म उस शुद्ध अनत सुखके वाधक थे, उनका जव नाश होगया तव उस आंत्मीक आनन्दकी प्रगटतामे कौन रोकनेवाला होसक्ता है ? कोई भी नही । केवलज्ञानी अरहत तथा सिद्धोंके ऐसा ही आत्मीक आनन्द है इस वातका श्रद्धान अभव्योको कभी नहीं पैदा हो सक्ता है । क्योकि जिनके कर्मोंके अनादि वधनके कारण ऐसी कोई अमिट मलीनता होगई है जिससे वे कभी भी

शुद्ध भावको पाकर सिद्ध नही होंगे उनके सम्यग्दर्शन ही होना अशक्य है। बिना मिथ्यात्वकी कालिमाके हटे हुए उस शुद्ध सुखकी जातिका श्राद्धन कोई नही कर सक्ता है। भव्योमे भी जिनके ससार निकट है उनहीके सम्यक्तभाव प्रगट होता है। सम्यक्त भावके होते ही भव्य जीवके स्वात्मानुभव अर्थात् अपने आत्माका स्वाद आने लगता है। इस स्वादमे ही उसी सच्चे सुखका स्वाद आता है जो आत्माका स्वभाव है। इस चौथे अविरत सम्यग्दृष्टीके भीतर भी उसी जातिके सुखका स्वाद आता है जो सुख अरहंत तथा सिद्धोके प्रगट है, यद्यपि नीचे गुणस्थानवाले जीवके अनुभवमे उतना निर्मल आनन्द नही प्रगट होता जितना श्री अरहत व सिद्ध परमात्माको होता है क्योकि घातिया कर्मोका अभाव नही भया है। तौ भी जो कुछ अनुभवमे होता है वह भावश्रुत ज्ञानके द्वारा आत्मीक सुखका ही स्वाद है। इसी कारण सम्यग्दृष्टी जीवोको पक्का निश्चय होजाता है कि जैसा आत्मीक सुख हमारे अनुभवमे आ रहा है इसी जातिका अनन्त अविनाशी और शुद्ध सुख घातिया कर्मोसे शून्य अरहत तथा सिद्धोके होता है। यह आत्मीक सुख सब सुखोसे श्रेष्ठ इसी कारणसे है कि यह निज स्वभावसे पैदा हुआ है। इसमे किसी तरहकी पराधीनता नही है। इस सुखके भोगसे आत्मा पुष्ट होता है तथा अपूर्व शातिका लाभ होता है और पूर्ववद्ध कर्मोकी निर्जरा होती है नवीन कर्मोका सवर होता है। इस सुखका अनुभव मोक्ष या स्वाधीनताका वीज है। इसी कारण यह सुख सवसे वढकर है। इस सुखके मुकावलेमे विषयभोग तथा कषायोके द्वारा उत्पन्न हुआ जो इन्द्रियसुख तथा मानसिक सुख सो वहुत ही निर्वल, पराधीन तथा अशातिका कारक, तृष्णावर्द्धक और कर्मवधका वीज है। इन्द्रियजनित सुख

इन्द्रियोकी पुष्ठता तथा इष्ट बाहरी पदार्थोके संयोगके आधीन है, आत्मबलको घटाता है, आकुलता व तृष्णाको बढ़ा देता है तथा तीव्र रागभाव होनेसे पापकर्मका बन्ध करता है। इन्द्रियभोगोंके सिवाय जो सुख मनको कषायजनित तृप्तिसे होता है वह भी इसी तरहका है जैसे किसी पर क्रोधके कारण द्वेष था यह सुना कि उसका अनिष्ट हो गया या स्वयं उसका अनिष्ट किया या करा दिया तब जो मनमें खुशी होती है वह मानसिक कषायजनित सुख है। इसी तरह मान कषायवश किसीका अपमान करके कराके व हुआ सुनके मायाकषायके वश किसीको स्वयं ठगके, व उसको प्रपचमे फसाके व वह ठगा गया ऐसा सुनके तथा लोभ कषायवश उसे कुछ प्राप्त करके, किसीको प्राप्त कराके व किसीको कुछ धनादि मिला ऐसा सुनके जो कुछ मनमें खुशी होती है वह मानसिक कषायजनित सुख है—यह इन्द्रिय व मनसे उत्पन्न सर्व सुख त्यागने योग्य है—एक अतींद्रिय आनन्द ही ग्रहण करने योग्य है—वह भी नीचे गुणस्थानके अनुभवके योग्य नहीं किन्तु वह जो घातिया कर्मोंके नाशसे परमात्माके उदय होजाता है—यही सुख सबसे उत्तम है। ऐसा सुख न गृहस्थ सम्यग्दृष्टि-योके है न परिग्रह त्यागी साधुओंके है। यद्यपि जाति समान है परन्तु उज्वलता व स्पष्टता तथा बलमे अतर है। ज्यो २ कषाय घटता है उज्वलता बढती है, ज्यो २ अज्ञान घटता है स्पष्टता बढती है, ज्यो २ अतर क्षय होता है बल बढता है। बस जब शुद्धता स्पष्टता तथा पुष्टताके घातक सब आवरण चले गए तब यह अतीन्द्रिय सुख अपने पूर्ण स्वभावमे प्रगट होजाता है। और फिर अनन्त कालके लिये ऐसा ही बना जायगा इसमे एक समयमात्रके लिये भी अन्तर नही पड़ेगा। जिनके अंतर्मुहूर्त पर्यंत ध्यान होता है और फिर ध्यान

बदलता है उनके तो इस सुखके आस्वादमे अतर पडजाता है परतु केवलज्ञानियोंके सदा ही परम निर्मल शुद्धोपयोग है जिसका आधार पूर्ण निर्मल अनत और अपूर्व महात्म्ययुक्त केवलज्ञान है इसलिये यही सुख सबसे बढकर है, ऐसा जान समता ठान व राग-द्वेष हानकर निश्चित हो निज स्वरूपके विकाश का अर्थात् केवलज्ञानके उदयका नित्य पुरुषार्थ करना चाहिये। और वह पुरुषार्थ स्वात्मानुभवके द्वारा निजानन्दका लाभ है। जैसा साध्य तैसा तैसा साधन होता है तब ही साध्यकी सिद्धि अनिवार्य्य होती है। वृत्तिकारने जो इस बातको स्पष्ट किया है कि जब गृहस्थ सम्यग्दृष्टीको सच्चे सुखका लाभ होने लगता है फिर वह इद्रियोके भोगोंके व मानसिक कपायजनित सुखोमे क्यो वर्तन करता है उसका भाव यही समझना चाहिये कि सम्यग्दृष्टीके अच्छी तरहसे विपयभोगजनित व कपायजनित सुखसे उदासीनता होगई है। वह श्रद्धान अपेक्षा तो अच्छी तरह होगई है परन्तु चारित्रकी अपेक्षा जितना चारित्र मोहका उदय है, उतनी ही उस उदासीनतामे कमी है इसलिये कपायका जब तीव्र उदय आजाता है तब वेवश हो कपायके अनुकूल विपय भोग कर लेता है फिर कपायके घटने पर अपनी निन्दा गर्हा करता है। उसकी दशा उस चोरके समान दड सहनेकी होती है जो दड सहना न चाहता हुआ भी, कोतवाल द्वारा बल पूर्वक पकड़ा जाकर दडित किया जाता है अथवा उस रोगीके समान होती है जो कडवी औपधि खाना नही चाहता है परन्तु वैद्यकी आज्ञासे लाचारीसे खा पी लेता है अथवा उस मनुष्यके समान होती है जो मादक वस्तुसे सर्वथा त्यागकी रुचि कर चुका है परन्तु पूर्व अभ्यासके वश जब स्मृति आती है तब कुछ पीलेता है उसका फल बुरा भोगता है—पछताता है—अपनी निन्दा गर्हा करता है तो भी पूर्व अभ्याससे फिर पीलेता। इस तरह होते होते

भी एक दिन अवश्य आयगा कि जव उसकी भीतरी रूचि व ग्लानि उसके चित्तको दृढ कर देगी कि मदिरा नही पीना चाहे प्राण चले जावे। वस, उसी ही दिनसे वह मादक वस्तु ग्रहण न करेगा। इसीतरह आत्मीक सुखकी रुचि तथा विषयसुखकी अरुचि तथा ग्लानि एक दिन इस भव्य जीवको विलकुल विरक्त कर देगी फिर यह कषायसे मोहित न होता हुआ रुचिपूर्वक आत्मीक आनन्दका ही भोग करेगा। वीतराग सम्यग्दृष्टि जीवकी ऐसी अवस्था हो जाती है कि वह शुद्ध सुखके स्वादके निरतर खोजी रहते हैं। उनको उस समताकी भूमिसे हटकर कषायकी भूमिमे आना ऐसा ही दाहजनक है कि जसे मछलियोका पानीको छोड़कर भूमिपर आना। तथा विषयभोगमे फसना उतना ही कष्टप्रद है जितना कष्ट उस मछलीको होता है जव उसको जीता हुआ अग्निमे पडना होता है। तात्पर्य्य यह है कि सम सुखको ही उपादेय जानना चाहिये। इस तरह अभेद नयसे केवलज्ञान ही सुख कहा जाता है इस कथनकी मुख्यतासे चार गाथाओसे चौथा स्थल पूर्ण हुआ ॥६२

मणुआऽसुरामरिंदा, अहिद्दुदा इन्दिएहिं सहजेहिं।
असहंता तं दुक्खं, रमंति विसएसु रम्मेसु ॥६३॥

मनुजासुरामरेन्द्राः अभिद्रुता इन्द्रियैः सहजैः ।
असहमानास्तद्दुःख, रमन्ते विषयेषु रम्येषु ॥६३॥

अर्थ:—आगे इस गाथामे आचार्य इद्रियजनित सुखका स्वरूप कहते हुए यह वताते हैं कि यह सुख मात्र क्षणिक रोगका उपाय है जो रोगको खोता नही किन्तु उस रोगको बढा देता है। वडे वड़े चक्रवर्ती राजा तथा इन्द्र जिनके पास पाचो इन्द्रियोके मनोवाछित भोग होते हैं वे उन भोगोके भोगनेमे इसी लिये वारवार लग जाते हैं कि उनको इन्द्रियोंके द्वारा जो वाहरी पदा-

र्थोका ज्ञान होता है उनमे वे रागद्वेष कर लेते हैं। अर्थात् उनमे जो पदार्थ इष्ट भासते हैं उनके भोगनेकी चाहरूपी दाह पैदा होती है। उस दाहसे जो पीडा होती है उसको सह नही सक्ते और घवडाकर इन्द्रियोके भोगोमे रमने लगते हैं। यद्यपि विषयोमे रमना उस रोगकी शातिका उपाय नही है तथापि अज्ञानसे जिस उपायसे इस रोगको मेटनेकी क्रिया यह ससारी प्राणी करता रहा है उसी उपायको यह भी पूर्व अभ्याससे करने लग जाते हैं। वडे २ पुरुष भी जिनको मति, श्रुत, अवधि तीनज्ञान हैं व जो सम्यग्दृष्टी भी हैं वे भी इन्द्रियोकी चाहकी पीडासे आकुलित होकर यह जानते हुए भी कि इन विषयभोगोसे पीडा शात न होगी, चारित्र मोहके तीव्र उदय से तथा पूर्व अभ्यासके सस्कारसे पुन पुन पाचो इन्द्रियोके भोगोमे लीन होजाते है। तथापि तृप्ति न पाते हुए व अपने ज्ञानके द्वारा पदार्थके स्वरूपको विचारते हुए विषयभोगोसे त्यागवुद्धि करते है। फिर भी विषयोमे रम जाते हैं। फिर ज्ञानवलसे विचारकर त्याग वुद्धि करते हैं। इस तरह वारवार होते रहनेसे जव भेदज्ञानके द्वारा चारित्रमोहका वल घट जाता है तव वैराग्यवान हो भोग त्याग योग धारण करके आत्मरसका पान करते हैं। वडे वडे पुरुषोको भी मनोज्ञ सामग्री की प्राप्ति होते हुए भी इन विषयभोगोसे कभी तृप्ति नही होती है, तो फिर जो अल्प पुण्यवान हैं जिनको इष्ट सामग्रीका मिलना दुर्लभ है उनकी पीडाका नाश किस तरह होना सभव है ? कभी नही होसक्ता। जो मिथ्यादृष्टी वडे मनुष्य तथा देव हैं वे तो सम्यग्ज्ञानके विना सच्चे सुखको न समझते हुए इद्रियद्वारा ज्ञान तथा सुखको ही ग्रहण करने योग्य मानते हैं और इसी बुद्धिसे रात दिन विषयोकी चाहकी दाहसे जलते रहते हैं। पुण्य के उदयसे इच्छित पदार्थ मिलनेपर उनमे लवलीन होजाते हैं। यदि इच्छित

पदार्थ नही मिलते हैं तो उनके उद्यम करनेमे निरतर आकुलित रहते है। जो अल्प पुण्यवान व पापी मनुष्य या हीन देव हैं वे स्वय इच्छित पदार्थोको] न पाते हुए उनके यथाशक्ति उद्यम करनेमे तथा दूसरे पुण्यवानोको देखकर ईर्षा करनेमे लगे रहते हैं जिससे महा मानसिक वेदना उठाते है। पापी मनुष्य यदि कभी कोई इष्ट पदार्थका समागम भी पालेते है तो उनको उस पदार्थसे शीघ्र ही वियोग होजाता है व सयोग रहनेपर भी वे उनके भोग उपभोग करनेमे अशक्य होजाते हैं। इस कारण दुःखी रहते है यहा गाथामे नारकी और तिर्यचोका नाम इस लिये नही लिया कि उनको तो सदा ही इष्ट पदार्थोका वियोग रहता है यद्यपि तिर्यंच कुछ इच्छित विषय भी पाते हैं, परन्तु वे वहुत कम ऐसे तिर्यंच हैं। अधिक तिर्यंच जीव तो क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, भय, मारण, पीडन, वैर, द्वेष तथा तीव्र विपय लोलुपता आदि दु खोसे सतापित रहते है। नारकीजीवोको इष्ट पदार्थ मिलते ही नही—वे विचारे घोर भूख प्यास शीत उष्णकी वेदनासे दु खित रहते है। मनुष्योकी अपेक्षा कुछ अधिक रमणीक विपय प्राप्त करनेवाले असुर अर्थात् भवनवासी, व्यतर, ज्योतिषी देव होते हैं उनसे अधिक मनोज्ञ विषय पानेवाले कल्पवासी देव होते है। ऐसे २ प्राणी भी जब इन्द्रियोकी तृष्णासे पीडित रहते हुए दु ख नही सहसकनेसे विषयोमे रमण करते है तब क्षुद्र प्राणियोकी तो बात ही क्या है? प्रयोजन आचार्यके कहनेका यही है कि मोहकर्मके प्रेरे हुए ये ससारी प्राणी विषयचाहकी दाहमे मूर्छित होते हुए पुन पुन. मृगकी तरह भाडलीमे जल ज्ञान दौड दौड़कर कष्ट उठाते हैं परन्तु अपनी विषयवासनाके कष्टको शात नही कर सक्ते है। यह सब अज्ञान और मोहका महात्म्य है। ऐसा ज्ञान केवलज्ञानकी प्राप्तिका उपाय करना योग्य है जिससे यह अनादि रोगकी जड कट जावे

और आत्मा सदाके लिये सुखी हो जावे। यहा वृत्तिकारने जो गर्म लोहेका दृष्टातदिया है–उसका मतलव यह है कि जैसे गर्म लोहा चारोतरफसे पानीको खीच लेता है वैसे चाहकी दाहसे त्रासित हुआ मनुष्य विषयभोगोको खीचता है ॥६५॥

जेसि विसयेसु रदी, तेंसि दुक्खं वियाण सब्भावं।
जदि तं ण हि सब्भावं, वावारो णत्थि विसयत्थं ॥६६

येषा विषयेषु रतिस्तेषा दु ख विजानीहि स्वाभावम्।
यदि तन्न हि स्वभावो व्यापारो नास्ति विषयार्थम् ॥६६॥

अर्थ :—इस गाथा मे आचार्यने यह दिखलाया है कि जिन जीवोकी रुचि इन्द्रियोके विषयभोगोमे होती है उनको मोह कर्मजनित अतरगमे पीडा होती। यदि पीडा न होवे तो उसके दूर करनेका उपाय न किया जावे। वास्तवमे यही वात है कि जव जव जिस इन्द्रियकी चाहकी दाह उपजती है। उस समय यह प्राणी घवडाता है और उस दाहकी पीडाको न सह सकनेके कारण इन्द्रियोके पदार्थोके भोगमे दौडता है। एक पतगा अपने नेत्र इन्द्रिय सम्वन्धी दाहकी शातिके लिये ही आकर अग्निकी लौमे पड जल जाता है। जैसे रोगी मनुष्य घवड़ाकर रोगकी पीडा न सह सकनेके कारण जो औषधि समझमे आती है उस औषधिका सेवन कर लेता है–वर्तमानकी पीडा मिट जावे यही अधिक चाहना रहती है। कषायके वश व अनादि सस्कारके वश यह प्राणी उस पीडाको मेटनेके लिये विषयभोग करता है जिससे यद्यपि वर्तमान पीडाको मेट देता है परन्तु आगामी पीडाको और वढा देता है। विषयसेवन करना विषय चाहरूपी रोगके मेटनेकी सच्ची औषधि नही है तत्काल कुछ शाति होती है परन्तु रोग वढ जाता है यही कारण है कि जो

कोई भी प्राणी सैकडो हजारो वर्षों तक लगातार इन्द्रियोंके भोगो को भोगा करता है परन्तु किसी भी इन्द्रियकी चाहको शान्त नही कर सक्ता। इसीसे यह इस रोगकी शातिका उपाय नहीं है। शातिका उपाय उस रोगकी जडको मिटा देना है अर्थात् उस कषायका दमन करना व नाश करना है जिसके उदयसे विषयकी वेदना पैदा होती है। जिसका नाश सम्यक्ती होकर अतरगमें अपने आत्माका दृढ श्रद्धान प्राप्तकर उस आत्माके स्वभावका भेद ज्ञान पूर्वक मनन करनेके उपायसे ही धीरे धीरे होता है। विषयभोगसे कभी भी यह रोग मिटता नही। स्वामी समतभद्राचार्यने स्वयभूस्तोत्र मे वहुत ही यथार्थ वर्णन किया है जैसे.—

शतह्रदोन्मेषचलं हि सौख्यं तृष्णा मयाप्यायनमात्रहेतु.।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं, तापस्तदायासयतीत्यवादी॥१३॥

अर्थ —इन्द्रियोंको सुख विजलीके चमत्कारके समान अथिर है। शीघ्र ही होकर नष्ट होजाता है तथा इस सुखसे तृष्णारूपी रोग मिटनेकी अपेक्षा और अधिक वढ जाता है। मात्र इतना ही वुरा अधिक होता है लाभ कुछ नही। तृष्णाकी वृद्धि निरतर प्राणीको सतापित या दाहयुक्त करती रहती है। वह चाहका दाहरूपी ताप जगतके प्राणियोको क्लेशित करता है। वे प्राणी उस पीडाके सहनेको असमर्थ होकर नानाप्रकार उद्यम करके धनका सग्रह करते है फिर धन लाकर इष्ट विषयोकी सामग्री लानेकी चेष्टा करते हैं और भोगते हैं फिर भी शाति नही पाते हैं, तृष्णाको वढा लेते है इस कारण इन्द्रियसुखका भोग अधिक आकुलताका कारण है। तव इस रोगकी शातिका उपाय अपने आत्मामें तिष्ठता है अर्थात् आत्मानुभव करता है ऐसा ही स्वामीने उसी स्तोत्रमे कहा है —

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुसां, स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा।
तृषोनुषङ्गान्न च तापशातिरितीदमाख्यद् भगवान् सुपार्श्व. ॥३२॥

अर्थ —श्री सुपार्श्वनाथ भगवानने अच्छीतरह वता दिया है कि जीवोका प्रयोजन क्षणभगुर भोगोमे सिद्ध नही होगा किन्तु अविनाशी रूपसे अपने आत्मामे तिप्ठनेसे होगा। क्योकि भोगोसे तृष्णाकी वृद्धि हो जाती है, ताप मिटता नही है। प्रयोजन यह है कि इन्द्रियसुख उल्टा दु खरूप ही है। खाज खुजानेसे खाजका रोग वढता ही है। वैसे ही इन्द्रियोके भोगोसे चाहनाका रोग वढता ही है–इसका उपाय आत्मानुभव है। आत्मानदके द्वारा जो शातरस व्यापता है वही रस चाहकी दाहको मेट देता है। और धीरे २ ऐसा मेट देता है कि फिर कभी चाहकी दाहका रोग पैदा नही होता है ऐसा जान साम्यभावरूप शुद्धोपयोगका ही मनन करना योग्य है।

इस प्रकार निश्चयमे इन्द्रिजनित सुख दु खरूप ही है ऐसा स्थापन करते हुए दो गाथाए पूर्ण हुई ॥६६॥

पप्पा इट्ठे विसये फासेहि समस्सिदे सहावेण।
परिणममाणो अप्पा सयमेव सुहं ण हवदि देहो ॥६७

प्राप्येष्टान् विपयान् स्पर्शै ममाश्रितान् स्वभावेन।
परिणममान आत्मा स्वयमेव सुख न भवति देह ॥ ६७ ॥

अर्थ :—यहा आचार्य कहते हैं कि शरीर व उसके आश्रित जो जडरूप द्रव्यइन्द्रियें तथा वाहरी पदार्थ हैं इन किसी मे भी सुख नहीं है। इन्द्रियमुख भी ससारी आत्माके अशुद्ध भावोसे ही अनुभवमे आता है। यह ससारी जीव पहले तो इन्द्रियसुख भोगनेकी तृष्णा करता है–फिर उस चाहकी दाहको न सह सकनेके कारण

जिनकी तरफ यह कल्पना उठती है कि अमुक पदार्थको ग्रहण करनेसे सुख भासेगा उस इष्ट पदार्थ को इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण करनेकी या भोगनेकी चेष्ठा करता है—यदि वे भोगनेमें नहीं आए तो आकुलता हीमें फंसा रहता है। यदि कदाचित् वे ग्रहण में आगए तो अपने रागभावके कारण यह वुद्धि करलेता है कि मैं सुखी भया-इस कारण इन्द्रियोंके द्वारा भी जो सुख होता है वह आत्मामें ही होता है। इस सुखको यदि निश्चय सुख गुणका विपरीत परिणमन कहें तौभी कोई दोष नहीं है। जैसे मिथ्यादृष्टीके सम्यक्त भावका मिथ्यातरूप परिणमन होता है इसलिये श्रृद्धान तो होता है परन्तु विपरीत पदार्थोंमें होता है। तव ही उसको मिथ्या या झूठा श्रद्धान कहते हैं। इसी तरह स्वात्मानुभवसे शून्य रागभावमें परिणमन करते हुए जीवके जो परके द्वारा सुख अनुभवमें आता है वह सुख गुणका विपरीत परिणमन है। अर्थात् अशुद्ध रागी आत्मा में अशुद्ध राग रूप मलीन सुखका स्वाद आता है। इस अशुद्ध सुखके स्वाद आनेमें कारण रागरूप कपायका उदय है। वास्तवमें मोही जीव जिस समय किसी पदार्थका इंद्रिय द्वारा भोग करता है उस समय वह रागरूप परिणमन कर जाता है अर्थात् वह रागभावका भोग करता है। वह रागभाव चारित्रगुणका विपरीत परिणमन है—उसीके साथ साथ सुख गुणका भी विपरीत स्वाद आता है। वास्तवमें स्वाद उसी समय आता है जव उपयोग कुछ काल विश्राम पाता है इंद्रियोंके द्वारा भोग करनेमें उपयोग अवश्य कुछ कालके लिये किसी मनोज्ञ विषयके आश्रित रागभाव में ठहर जाता है तव आत्माको सुख गुणकी अशुद्धताका स्वाद आता है। यदि उपयोग राग संयुक्त रहता हुआ अति चंचल होता है ठहरता नहीं तो उस चंचल आत्माके भीतर रागभाव होते

हुए भी अशुद्ध सुखका भान नही होता है । जैसे सम्यग्दृष्टी ज्ञानी आत्माके स्वात्मानुभवके द्वारा सच्चे अतीन्द्रिय सुखके भोगनेकी योग्यता हो जाती है । यदि उसका उपयोग निज आत्माके भावमे परमे मोह रागद्वेष त्याग ठहर जाता है तव ही स्वात्मानुभव होता हुआ निजानन्दका स्वाद आता है । विना उपयोगके कुछ काल विश्राम पाए निज सुखका स्वाद भी नही आसक्ता है । इसलिये यहा आचार्यने यह सिद्ध किया है कि सुख अपने आत्मामे ही है । आत्मामे यदि सुख गुण न होता तो ससारी आत्माको भी जो इद्रिय सुख व काल्पनिक सुख कहा जाता है सो भी प्राप्त नही होता । क्योकि इद्रियोके द्वारा होनेवाला सुख अशुद्ध है, पराधीन है, मोह व रागको वढानेवाला है, अतृप्तिकारी है तथा कर्मवधका वीज है इसलिये उपादेय नही है । परन्तु शुद्ध आत्माके स्वाधीन शुद्ध सुख है जो वीतरागमयी है, वधकारक नही है व तृप्तिदायक है इसलिये उपादेय है । ऐसा जानकर क्षणिक व अशुद्ध तथा पराधीन सुखकी लालसा छोडकर निजाधीन अनत अतीद्रिय सुखको भोगने के लिये आत्माको मुक्त करना चाहिये और इसी कर्मसे छुटकारा पानेके उपायमे हमको साम्यभावका आलम्वन करके निज सुखका स्वाद पानेका पुरुपार्थ करना चाहिये यही निजानद पूर्ण आनन्दकी प्रगटताका वीज है । इस कथन से आचार्यने यह भी वतला दिया है कि सुख अपने भावोमे ही होता है शरीरादि कोई वाहरी पदार्थ सुखदाई नहीं है इसलिये हमे अपनी इस मिथ्याबुद्धिको भी त्याग देना चाहिये कि यह शरीर, पुत्र, मित्र, स्त्री, धन, भोजन तथा वस्त्र सुखदाई हैं । हमारी ही कल्पनासे ये सुखदाई तथा दु खदाई भासते हैं । यही स्त्री जव हमारी इच्छानुसार वर्तती है तव इष्ट व सुखदाई भासती है, जब इच्छा विरुद्ध वर्तन करती है तव अनिष्ट या दुखदाई भासती है । आज्ञाकारी

पुत्र इष्ट व दुर्गुणी पुत्र दुखदायी भासता है इत्यादि। ऐसा जानकर इन्द्रिय सुखका भी उपादान कारण हमारा ही अशुद्ध आत्मा है, पर पदार्थ निमित्त मात्र हैं ऐसा जानना, क्योंकि सुख आत्माका गुण है इसीसे शरीर रहित सिद्धोके अनंत अतींद्रिय आनन्द सदा विद्यमान रहता हैं ॥ ६७ ॥

एगंतेण हि देहो, सुहं ण देहिस्स कुणइ सग्गे वा।
विसयवसेण दु सोक्खं, दुक्खं वा हवदि सयमादा ॥६८॥

एकान्तेन हि देहः सुखं न देहिन करोति स्वर्गे वा।
विषयवशेन तु सौख्य दुःख वा भवति स्वयमात्मा। ६८ ॥

अर्थ :—इस गाथामे भी आचार्यने शरीरको जडरूप होनेसे शरीर सुख या दुःखरूप होना है इस बातका निषेध किया है तथा बतलाया है कि देवोके यद्यपि धातु उपधातु रहित नानारूपोंको बदलनेवाला वैक्रियिक परम क्रांतिमय नित्य भूखप्यास निद्राकी बाधा रहित शरीर होता है तथापि देवोके सुख या दुःख उनकी अनादि कालसे चली आई हुई विषयवासनाके आधीनपनेसे ही होता है। इद्रियोंके विषयभोगने से सुख होगा इस वासनासे कषायके उदयसे भोगकी तृष्णाको शमन करनेके लिये असमर्थ होकर मनोज्ञ देवी आदिकोमे वे देव रमण करते हैं। उनके नृत्य गानादि सुनते हैं जिससे क्षणभरके लिये आकुलता मेटनेसे सुख कल्पना कर लेते हैं। यदि किसी देवीका मरण होजाता है तो उस देवीको न पाकर उसके द्वारा भोग न कर सकने के कारण वे देव दुःखी होकर दुःखका अनुभव करते हैं। शरीर तो दोनों अवस्थाओंमें एकसा रहता है तथापि यह आत्मा अपनी ही कषायकी परिणतिमें परिणमनकर सुखी या दुःखी होजाता है। शरीर तो एक निमित्त कारण है—समर्थ कारण नही है। बलवान कारण कषायकी तीव्रता

है। सासारिक सुख या दु खके होने मे रागद्वेपकी तीव्रता कारण है। जब राग अति तीव्र होता है तब सासारिक सुख और जब द्वेप अति तीव्र होता है तब सासारिक दु ख अनुभवमे आता है। जब किसी इष्ट विपयके मिलनेमे असफलता होती है तब उस वियोगसे द्वेपभाव होता है कि यह वियाग हटे जिसमे परिणाम बहुत ही सक्लेशरूप होजाते है उसी समय अरति शोक, नो कपायका तीव्र उदय होता आता है बस यही प्राणी दुःखका अनुभव करता है कभी किसी अनिष्ट पदार्थमे द्वेपभाव होता है तब उसका सयोग न हो यह भाव होता है तब ही भय तथा जुगुप्सा नोकपायका तीव्र उदय होता है इसी समय यह कपायवान जीव दु खका अनुभव करता है।

वीतराग केवली भगवानके कोई कपाय नहीं है इसीसे परमौदारिक शरीर होते हुए भी न कोई सासारिक सुख है न दु ख है। यह कपायोके उदयका कारण है जो चारित्र और सुख गुणको विपरीत परिणमा देता है। जब रागकी तीव्रता होती तब सुख गुणका विपरीत परिणमन इन्द्रिय सुखरूप और जब द्वेपकी तीव्रता होती है तब उस गुणका दु खरूप परिणमन होता है। कपायोमे माया, लोभ, हास्य, रति, तीनो वेद राग तथा क्रोध, मान, अरति, शोक, भय जुगुप्सा द्वेप कहलाते है। ये कषायरूप राग या द्वेप प्रगट रूपसे एक समयमे एक झलकसे है परन्तु एक दूसरेके कारण होकर शीघ्र बदला बदली कर लेते है। किसी स्त्रीकी तृष्णासे राग हुआ, उसके वियोग होनेपर दूसरे समयमे द्वेप हो जाता है फिर यदि उसका सयोग हुआ तब फिर राग होजाता है। परिणामोमे सल्केशता द्वेपसे होती है तथा परिणामोसे उन्मत्तता आशक्ति रागसे होती है। बाहरी पदार्थ मात्र

निमित्तकारण है । कभी इष्ट बाहरी कारण होते हुए भी परिणाम मे अन्य किसी विचारके कारण द्वेष रहता है जिसमे इष्ट शरीरादि सुखभाव नही दे सक्ते है । प्रयोजन यह है, कि यही अशुद्ध आत्मा कषाय द्वारा सुखी तथा दु खी होजाता है शरीर सुख या दु खरूप नही होता है, ऐसा जानकर सासारिक सुखको कषायजनित विकार मानकर तथा निजाधीन निर्विकार आत्मीक सुखका उपाय ठीक २ करना कर्तव्य समझकर उस सुखके लिये निज शुद्धात्मामे उपयोग रखकर साम्यभावका मनन करना चाहिये ।

इस तरह मुक्त जीवोके देह न होते हुए भी सुख रहता है इस बातको समझानेके लिये ससारी प्राणियोको भी देह सुखकाकारण नही है ऐसा कहते हुए दो गाथाए पूर्ण हुई ॥६८॥

तिमिरहरा जइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि कादव्वं ।
तह सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति ॥६६॥

तिमिरहरा यदि दृष्टिर्जनस्य दीपेन नास्ति कर्तव्यम् ।
तथा सौख्य स्वयमात्मा विषया किं तत्र कुर्वन्ति ॥ ६७ ।

अर्थ —इस गाथामे आचार्यने साफ २ प्रगट कर दिया है कि सुख आत्माका स्वभाव है । इसलिये जैसे बाहरी शरीर सुखरूप नही है वैसे इन्द्रियोके विषयभोगके पदार्थ भी सुखरूप नही हैं। वास्तवमे इस ससारी प्राणीने मोहके कारण ऐसा मान रक्खा है कि धन, स्त्री, पुत्र, मित्र आदि पदार्थ सुखदाई हैं । वास्तवमे बाहरी पदार्थ जैसेके तैसे अपने स्वभावमे है । हमारी कल्पनासे अर्थात् कषायके उदयजनित विकारसे कभी कोई पदार्थ सुखदाई व कभी कोई पदार्थ दु खदाई भासते है । जब स्त्री आज्ञामे चलती है तब सुखदाई और जब आज्ञासे विरुद्ध चलती है तब दु खदाई

भासती है। रागीको धन सुखरूप तथा वैरागीको दु खरूप प्रगट होता है। निश्चयमे कोई पदार्थ सुख या दु खरूप नही है न कोई दूसरेको सुखी या दु खी करसक्ता है। यह प्राणी अपनी कल्पनासे कभी किसीके द्वारा सुखरूप तथा कभी दु खरूप होजाता है। जैसा पहले गाथाओमे कहा है कि सुख आत्माका निज स्वभाव है वैसे यहा कहा है कि सुखरूप स्वय आत्मा ही है। जैसे ज्ञान स्वभाव आत्मा का है वैसे सुख भी स्वभाव आत्माका है, ससार अवस्थामे उसी सुख गुणका विभावरूप परिणमन होता है। चारित्रमोहके उदय वश आत्मीक सुखका अनुभव नही होता है परन्तु जब बलपूर्वक मोहके उदयको दूरकर कोई आत्मज्ञानी महात्मा अपने आत्मामे निज उपयोगकी थिरता करता है तो उसको उस सच्चे स्वाधीन सुखका स्वाद आता है। केवलज्ञानीके मोहका अभाव है इसलिये वे निरतर सच्चे आनन्दका विलास करते है। प्रयोजन कहनेका यह है कि जब सुख निज आत्मामे है तब निज आत्माका ही स्वाद स्वाधीनतामे लेना चाहिये। सुखके लिये न शरीरकी न धनादिकी न भोजन पान वस्त्रादिकी आवश्यक्ता है। आत्मीक सुख तो तब ही अनुभवमे आता है। जब सर्व परपदार्थोंसे मोह हटाकर निजमे ठहरा जाता है। यहा आचार्यने दृष्टात दिया है कि जो कोई चोर, सिह, बिलाव, सर्प आदि रात्रिमे स्वय देख सक्ते है उनके लिये दीपककी जरूरत नही है। देखनेका स्वभाव दृष्टिमे ही है। यह ससार अधेरी रात्रिके समान है। अज्ञानी मोही बहिरात्मा जीवोकी दृष्टि आत्मीक सुखको अनुभव करनेके लिये असमर्थ है। इसलिये बाहरी पदार्थोंका निमित्त मिलाकर वे जीव सासारिक तथा काल्पनिक सुखको सुख मानकर रजायमान होते हैं। वहा भी उनके ही सुख गुणका उनको अनुभव हुआ है परन्तु वह विभावरूप भया है। इस बातको मोही जीव नही विचारते हैं। जैसे कोई

मुर्ख रात्रिको दीपकने देखता हुआ यह माने कि दीपक दिखाता है। मेरी आख देखती है दीपक मात्र सहायक है ऐसा न समझे तैसे अज्ञानी मोही जीव यह समझता है कि पर पदार्थ सुख या दु ख देते है। मेरेमें स्वय सुख है और वह परदार्थके निमित्तसे मुझे भासा है इस वातका ज्ञान श्रद्धान अज्ञानियोको नही होता है यहा आचार्यने सचेत किया है कि आत्मा स्वय आनन्दरूप है। इसलिये शरीर व विषयोको सुखदाई दु खदाई मानना केवल मोह का महात्म्य है। ऐसा जानकर ज्ञानीका कर्तव्य है कि साम्यभावमे ठहरनेका अभ्यास करे जिससे निज सुखका स्वय अनुभव हो-ऐसा तात्पर्य्य है ॥६९॥

सयमेव जहादिच्चो, तेजो उण्हो य देवदा णभसि ।
सिद्धो वि तहा णाणं, सुहं च लोगे तथा देवो ॥७०॥

स्वयमेव यथादित्यस्तेज उष्णश्च देवता नभसि ।
सिद्धोपि तथा ज्ञान सुख च लोके तथा देव ॥७०॥

अर्थ इस गाथामे आचार्यने पूर्वकथित गाथाओका सार खीचकर वता दिया है कि शुद्ध आत्माका स्वभाव केवलज्ञानमय है और अतीद्रिय आनदमय है न उसके पास कोई अज्ञान है न कोई रागद्वेषकी कालिमा है और इसीसे काल्पनिक पराधीन ज्ञान तथा सुख नही है। जबतक कर्मवन्धनकी अशुद्धता आत्मामें रहती है तवतक यह आत्मा अपने स्वाभाविक गुणोका विकास नही कर सक्ता है। वधनके मिटते ही शुद्ध स्वभाव प्रगट हो जाता है। यद्यपि शुद्ध आत्मामे अनन्तगुणोका प्रकाश हो जाता है तथापि यहा उन ही गुणोको मुख्य करके वताया है जिनको हम जानकर आत्माकी सत्ताको अनात्मासे भिन्न पहचान सक्ते हैं। इसी लिये यहा ज्ञान और सुख दो मुख्य गुणोकी महिमा वता दी है-ज्ञानसे सर्वको

जानते तथा आपको जानते और सुखमे स्वाधीन निजानन्दका भोग करते हुए परमाल्हाद रूप रहते हैं। और इस कारण शुद्ध आत्मा गणधर, इद्रादिक तथा अन्य ज्ञानी सम्यग्दृष्टि भव्योके द्वारा आराधने योग्य व स्तवनके योग्य परम देवता है। यहा दृष्टात सूर्य्यका दिया है। सूर्यमे एक ही काल तेज और उष्णता प्रगट है अर्थात् सूर्य सब पदार्थोको व अपनेको प्रकाश करता है और उष्णता प्रदान करता है-और इसीलिये अज्ञानी लौकिक जनोके द्वारा देवता करके आदर पाता हैं। वास्तवमे सन्मान गुणोका हुआ करता है। इस गाथासे यह भी आचार्यने प्रगट किया है कि ऐसा ही शुद्ध आत्मा हमारे द्वारा परमदेव मानने योग्य है। तथा हमे अपने आत्माका स्वभाव ऐसा ही जानना, मानना तथा अनुभावना चाहिये-इसी स्वभावके ध्यानसे स्वसवेदन ज्ञान तथा निजात्मीक सुख झलकता है जो केवलज्ञान और अनन्तसुखका कारण है। वास्तवमे शरीर तथा इन्द्रियोके विषय सुखके कारण नही हैं। इस तरह स्वभावसे ही आत्मा सुख स्वभाव है अतएव इन्द्रियोके विषय भी मुक्तात्माओके सुखके कारण नही होते हैं ऐसा कहते हुए दो गाथाए पूर्ण हुई ।।७०।।

तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं।
तिहुवणपहाणदइयं, माहप्पं जस्स सो अरिहो ।।७१।।

तेज दृष्टि ज्ञान ऋद्धि सुख तथैव ऐश्वर्यं।
त्रिभुवनप्रधानदैव माहात्म्य यस्य सोऽर्हन् ।।७१।।

अर्थ —यहा आचार्यने शुद्ध आत्माके जो केवलज्ञान और अतीद्रिय अनन्तसुख स्वभावको धरनेवाले है दो भेद दिये है अर्थात् अरहत और सिद्धा और उनके स्वरूपका खुलाशा करते हुए उनको नमस्कार किया है। क्योकि वस्तुके स्वरूप मात्रको कहना भी

नमस्कार हो जाता है। परमौदारिक शरीर सहित आत्माको अरहंत कहते हैं जिनका शरीर कोटि सूर्यसम दीप्तमान रहता हुआ अपनी दीप्तिसे चारों तरफ भामंडल बना लेता है, जिस शरीरको भोजनपानकी आवश्यक्ता नहीं होती है, चारों तरफसे शरीरको पुष्टिकारक नोकर्म वर्गणाओंका नित्य ग्रहण होता है। इस अरहंत भगवानके ज्ञानावरणीय आदि चार घातिया कर्मोका अभाव हो गया है इसलिये केवलदर्शन, केवलज्ञान, अनन्तवल तथा अतींद्रिय आनन्द, परम वीतरागता आदि स्वभाव प्रगट हो गए हैं। तथा पुण्यकर्मका इतना तीव्र उदय है जिससे समवशरणकी रचना हो जाती है जिसमें १२ सभाओंके द्वारा देव, मनुष्य, तिंयच सब भगवानकी अनक्षरी दिव्यध्वनि सुनकर अपनी २ भाषामें धर्मका स्वरूप समझ जाते हैं। बड़े २ गणधर मुनि चक्रवर्ती राजा तथा इन्द्रादिका देव जिस अरहंत भगवानकी भली विधिसे आराधना करते हैं इस भावसे कि वे भी अरहंत पदके योग्य हो जावें ऐसा ईश्चरपना जिन्होंने प्राप्त कर लिया है तथा तीन लोकके ईस इन्द्र अहमिद्र भी जिनको अंतरंगसे प्यार करते हैं ऐसे परम देवपनेको धारण करनेवाले हैं, इत्यादि अद्भुत महात्म्यके धारी श्री अरहंत भगवान कहे जाते हैं। इन अरहंतोंका शरीर परम सौम्य वीतरागमय झलकता है जिसके दर्शन मात्रसे शांति छाजाती हैं प्रयोजन कहनेका यह हैं कि जबतक हम निर्विकल्प समाधिमें आरूढ़ नही हैं तबतक हमको ऐसे श्री अरहंत भगवानका पूजन, भजन, आराधन, मनन करते रहना चाहिये। परमपुरुषकी सेवा हमारे भावोंको उच्च बनानेवाली है। यद्यपि अरहंत भगवान वीतराग होनेसे भक्ति करनेवालेसे प्रसन्न नहीं होते और न कुछ देते हैं परन्तु उनकी भक्तिसे हमारे भाव शुभ होतें हैं जिससे हम स्वयं पुण्य कर्मोंको बांध लेते हैं और यदि हम अपने भावोंमें उनका निरादर करते व उनकी वचन

से निन्दा करते हैं तो हम अपने ही अशुभ भावोसे पाप कर्मोको बाध लेते है वे वीतराग हैं—समदर्शी हैं। न प्रसन्न होते न अप्रसन्न होते हैं। तथापि उनका दशन, पूजन, स्तवन हमारा उपकार करता है-जैसा श्री समतभद्रस्वामीने अपने स्वयभूस्तोत्रमे कहा है।

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिन पुनातु चित्त दुरिताञ्जनेभ्यः ॥५७॥

अर्थ—हे भगवान! आप वीतराग हैं। आपको हमारी पूजा या भक्तिसे कुछ प्रयोजन नही है। अर्थात् आप हमारी पूजासे प्रसन्न नही होते, वैसे ही आप वैर भावमे रहित है इससे हमारी निन्दासे आप विकारवान नही होते है ऐसे आप उदासीन हैं तथापि आपके पवित्र गुणोका स्मरण हमारे चित्तको पापके मैलोसे पवित्र करता है अर्थात् आपके शुद्ध गुणोको जव हमारा मन स्मरण करता है तव हमारा पाप नष्ट होजाता है और मन वैराग्यवान होकर पवित्र होजाता है ऐसा ज्ञान श्री अरहत भगवानको ही आदर्श मानके उनकी भक्ति करनी योग्य है तथा भक्ति करते करते उनके समान अपने आत्माको देखकर आपमे आप तिष्ठकर स्वानुभवका आनन्द लेना योग्य है जो समताको विस्तारकर मोक्षरूप अखड अविनाशी राज्यकी तरफ ले जानेवाला है। ॥७१॥

तं गुणदो अधिगदरं, अविच्छिदं मणुवदेवपदिभावं
अपुणब्भावणिबद्धं, पणमामि पुणो पुणो सिद्धं ॥७२॥

त गुणत अधिकतर अविच्छिदमनुजदेवपतिभाव।
अपुनर्भावनिवद्ध प्रणमामि पुन पुन सिद्ध ॥७२॥

अर्थ.—यहा आचार्यने निकल परमात्मा श्री सिद्ध भगवानको नमस्कार किया है। सिद्धोके शरीर कोई प्रकार के नही होते

है जब कि अरहंतोंके औदारिक तैजस और कार्मण ऐसे तीन शरीर होते हैं। सिद्धोंमें पूर्ण आत्मीकगुण या स्वभाव झलक रहे हैं क्योंकि कोई भी आवरण व कर्मरूपी अजन सिद्ध भगवानके नहीं है। वे सर्व ही भव्यजीवोंके द्वारा भजनीय व पूज्य हैं। इसी से त्रिलोकके स्वामी है, उनके स्वभाव का कभी वियोग न होगा तथा वे मोक्षके अतींद्रिय आनन्द के नित्य भोगनेवाले हैं। आचार्यने पूर्व गाथाओंमे जिस केवलज्ञानकी तथा अनन्तसुखकी महिमा बताई है उसके जैसे श्री अरहत भगवान स्वामी है वैसे श्री सिद्धपरमेष्टी भी है-ये दोनों परमात्मा सविकल्प अवस्थामें व शुद्धोपयोगकी भावनाके समय ध्यान करने योग्य है- इनहीके द्वारा यह आत्मा अपने निज स्वभावमे निश्चलता प्राप्त करता है जगतके प्राणियोंको किसी देवकी आवश्यक्ता पडती है जिसकी वे भक्ति करे उनके लिये आचार्यने बता दिया है कि जैसे हमने यहा श्री अरहत और सिद्ध परमात्माको नमस्कार किया है वैसे सर्व उपासक श्रावक श्राविका भी इनहीकी भक्ति करो-इनहीके द्वारा मोक्षका मार्ग प्रगट होगा व आत्माको परम सुखकी प्राप्ति होगी।

इस प्रकार नमस्कारकी मुख्यतासे दो गाथाए पूर्ण हुई। इस तरह आठ गाथाओंमे पाचवा स्थल जानना चाहिये। इस तरह अठारह गाथाओमे व पाच स्थलमें सुख प्रपञ्च नामका अन्तर अधिकार पूर्ण हुआ। इस तरह पूर्वमे कहे प्रमाण "एस सुरासुर" इत्यादि चौदह गाथाओंसे पीठिकाको वर्णन किया। फिर सात गाथाओमे सामान्यपने सर्वज्ञकी सिद्धि की, फिर तेतीस गाथाओंसे ज्ञान प्रपच फिर अठारह गाथाओमे सुख प्रपच इस तरह समुदायसे बहत्तर गाथाओके द्वारा तथा चार अन्तर अधिकारोंसे शुद्धोपयोग नामका अधिकार पूर्ण किया ॥७२॥

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु ।
उववासादिसु रत्तो, सुहोवओगप्पगो अप्पा ।।७३।।

देवनायतिगुरुपूजासु चैव दाने वा सुशीलेषु ।
उपवासादिषुरक्त शुभोपयोगात्मक आत्मा ।।७३।।

अर्थ —यहा आचार्यने शुद्धोपयोगमे प्रीतिरूप शुभोपयोगका स्वरूप बताया है अथवा अरहत सिद्ध परमात्माके मुख्य ज्ञान और आनन्द स्वभावो का वर्णन करके उन परमात्माके आराधनकी सूचना की है अथवा मुख्यतासे उपासकका कर्तव्य बताया है। शुभोपयोगमे कषायोकी मदता होती है। वह मद कषाय इन व्यवहार धर्मोके पालनसे होती है। जिनको गाथामे सूचित किया है अर्थात् सच्चे देवताकी श्रद्धापूर्वक भक्ति और पूजा करना व्यवहार धर्म है। जिसमे क्षुधादि अठारह दोष नही है तथा जो सर्वज्ञ सर्वदर्शी और अतीद्रिय अनन्त सुख के धारी है ऐसे अरहत भगवान तथा सर्व कर्म रहित श्री सिद्ध भगवान ये ही सच्चे पूजने योग्य देवता है। इनके गुणोमे प्रीति बढाते हुए मनसे, वचन से तथा कायसे पूजा करना शुभोपयोगरूप है। प्रतिबिम्बोके द्वारा भी वैसी ही भक्ति हो सक्ती जैसी साक्षात् समवशरणमे स्थित अरहत भगवानकी। तथा द्रव्य पूजाके निमित्तसे भाव पूजा होती है। पूज्यके गुणोमे उपयोगका भीज जाना भाव पूजा है। जल चदनादि अष्ट द्रव्योको चढाते हुए गुणानुवाद करना अथवा कही कही श्रावक अवस्थामे व मुनि अवस्थामे केवल मुखसे पाठ द्वारा गुणोका कथन करना व नमन करना द्रव्य पूजा है। गृहस्थोके मुख्यतासे आठ द्रव्योके द्वारा व कमसे कम एक द्रव्यके द्वारा पूजा होती है व गौणतासे आठ द्रव्योके बिना स्तुति मात्र व नमस्कार मात्रसे भी द्रव्य पूजा होती है। मुनियोके सामग्रीका ग्रहण नही है। वे सर्व त्यागी है। इस लिये

मुनि महाराज स्तुति व वन्दना करके द्रव्य पूजा करते हैं । जैसे नमस्कारके दो भेद हैं–द्रव्य नमस्कार व भाव नमस्कार वैसे पूजाके दो भेद है–द्रव्य पूजा व भाव पूजा । जिसको नमस्कार किया जाय उसके गुणोमे लवलीनता भाव नमस्कार हैं वैसे जिनको पूजा जावे उसके गुणोमे लीनता भाव पूजा है । वचनसे नमः शब्द कहना व अगोका झुकाना द्रव्य नमस्कार है वैसे पूज्य पुरुषके गुणानुवाद गाना, नमन करना, अष्टद्रव्यकी भेट चढाना द्रव्य पूजा है । द्रव्य पूजा निमित्त है भाव पूजा साक्षात् पूजा है । यदि भाव पूजा न हो तो द्रव्य पूजा कार्यकारी नही होगी । इसलिये अरहंत व सिद्धकी भक्ति भावोकी निर्मलताके लिये ही करनी चाहिये । श्री समत भद्राचार्यने स्वयभू स्तोत्रमे भक्ति करते हुए यही भाव झलकाया है जैसे—

स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चित' सतां समग्रविद्यात्मवपुर्निरंजनः ।
पुना तु चेतो मम नाभिनन्दनो जिनो जितक्षुल्लकवादिशासन ॥५॥

अर्थ —वह जगतको देखने वाले, साधुओमे पूजनीक पूर्ण ज्ञानमई देहके धारी, निरजन व अल्पज्ञानी अन्य वादियोके मतको जीननेवाले श्री नाभिराजाके पुत्र श्री वृषभ जिनेन्द्र मेरे चित्तको पवित्र करो । भावोकी निर्मलता होने से जो शुभ राग होता है वह तो महान पुण्य कर्मको बाधता है व जितने अश वीतराग भाव होता है वह पूर्व बधे हुए कर्मोकी निर्जरा करता है–यहा देवताका आराधन अरहत व सिद्धका आराधन ही समझना चाहिये । जिनको बडे २ इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती, साधु, गणधर आदि मस्तक नमाते है वे ही एक जैन गृहस्थके द्वारा भी पूजने योग्य देव हैं । इनको छोडकर अन्य रागद्वेष सहित कर्मबन्धमे बन्धे जन्म मरण करनेवाले स्वर्गवासी व पातालवासी व मध्यलोकवासी देवगतिमे तिष्ठे हुए किसी भी जीवको देवता मानकर पूजना व अराधना

करना नहीं चाहिये। जो इन्द्रियोंके विषयोंकी चाहनाको छोड़कर शुद्धात्माके स्वभाव को प्रगट करनेके लिये रत्नत्रयमई धर्मका यत्न सर्व परिग्रह छोड़ व तेरा प्रकार चारित्र धारणकर करते हैं वे यति या साधु हैं। इनकी पूजा करनी शुभोपयोग है। साधुओंकी भक्ति आठ द्रव्योंसे पूजा, स्तुति, नमस्कारमें भी होती तथा भक्तिपूर्वक शुद्ध आहार, औषधि व शास्त्र दानमें भी होती है। जो साधु स्वयं रत्नत्रयको साधते हुए दूसरोंको साधुधर्म साधन कराते अथवा उनको शास्त्रकी शिक्षा देते ऐसे आचार्य और उपाध्याय गुरु हैं। इनकी पूजामें आशक्त होना शुभोपयोग है इस तरह "देवदजदिगुरुपूजासु" इस एक पदमें आचार्यने अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पांचों परमेष्टियोंकी भक्ति को सूचित किया है। इनमें भक्ति पूर्वक उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रोंको पात्रदान तथा दया पूर्वक दुःखितों व अज्ञानियोंको आहार, औषधि, विद्या तथा अभयदान करना बताया है। जैसे पूजा करनेसे कषाय मंद होती है वैसे दान देनेसे कषाय मंद होती है तीसरे सुशीलोंमें महाव्रतरूप तथा अणुव्रतरूप मुनि व श्रावकका व्यवहार चारित्र बताया है। मुनियोंको पांच महाव्रत, पांच समिति तथा तीन गुप्तिमें और श्रावकोंको बारहव्रतरूप चारित्रमें लवलीन होना चाहिये—यह सब शुभोपयोग है। उपवासादिमें बारह प्रकार तप समझने चाहिये—इन तपोंमें मुनियोंको पूर्ण रूपसे तथा श्रावकोंको एक देशसे आशक्त होना चाहिये। इनमें मुख्य तप ध्यान है, ध्यान करनेमें प्रीति, उपवास करनेमें अनुराग, रसत्याग करनेमें रति इत्यादि १२ तपोंमें प्रेम करना शुभोपयोग है।

इस शुभोपयोगमें परिणमन करनेवाला आत्मा स्वयं शुभोपयोगी हो जाता है। इस गाथामें आचार्यने व्यवहार चारित्रका वर्णन कर दिया है। शुभोपयोगमें वर्तन करनेसे उपयोग अशुभोपयोगसे बचा

रहता है तथा यह शुभोपयोग शुद्धोपयोगमे चढनेके लिये मध्यकी सीढी है इसलिये शुद्धोपयोगकी भावना करते हुए शुभोपयोगमे वर्तन करना चाहिये। वास्तवमे शुभोपयोग सम्यग्दृष्टीके ही होता है जैसा पहले कहा जाचुका है, परन्तु गौणतासे अर्थात् मोक्षमार्गमे परिणमन रूपसे नही किन्तु पुण्य वधकी अपेक्षामे मिथ्यादृष्टीके भी होता हैं इसी शुभोपयोगसे मिथ्यात्वी द्रव्यलिंगी मुनि नौ ग्रैवेयक-तक व अन्य भेषीमुनि बारहवे स्वर्गतक जासक्ता है। तात्पर्य यह है कि शुद्धोपयोगको ही उपादेय मानके उसीकी भावनाकी प्राप्तिके लिये अरहत भक्ति आदि शुभोपयोगके मार्गमे वर्तना चाहिये ॥७३॥

जुत्तो सुहेण आदा, तिरियो व माणुसो वा देवो वा।
भूदो तावदि कालं, लहदि सुहं इन्दियं विविहं ॥७४॥

युक्त शुभेन आत्मा तिर्यग्वा मानुपो वा देवो वा।
भूतस्तावत्काल लभते सुखमैन्द्रिय विविधम् ॥ ७४ ॥

अर्थ —शुभोपयोग भी अपराध है क्योकि परमे सन्मुखता रूप राग है इसीसे वन्धरूप है। जितना शुभ भाव होता है उतना ही विशेष रसवाला साता वेदनीय, शुभनाम, उच्च गोत्र तथा शुभ आयुका वन्ध हो जाता हैं। सम्यक्ती जीवोके सम्यक्तकी भूमिकामे जो शुभ भाव होता है वह तो अतिशयकारी पुण्यका वध करता है-ऐसा सम्यक्ती जीव सिवाय कल्पवासी देवकी आयुके अथवा देव पर्यायमे यदि है तो सिवाय उत्तम मनुष्य पर्यायके और किसी आयुका वन्ध नही करता है। मिथ्यादृष्टी जीव अपने योग्य शुभोप-योगसे तिर्यंच, मनुष्य अथवा देव आयु तथा तथा इन गतियोमे भोग योग्य पुण्य कर्म्म बाध लेते हैं। चार आयुमे नरक आयु अशुभ है क्योकि वह आयु नारकियोको सदा क्लेशरूप भासती है जब कि तिर्यंच, मनुष्य या देवोको अपनी २ आयु सदा क्लेशरूप नही

भासती है। इन तीनोको इन्द्रिय भोगके योग्य कुछ पदार्थ मिल जाते हैं जिसमे ये प्राणी रति करते हुए अपनी आयुको सुखदाई मानलेते हैं। शुभोपयोगमें जितना कषाय अश होता है वही पुण्य कमको बाध देता है जो पुण्यकर्म्म इष्ट पुग्दलोको व इष्ट पुग्दल सहित जीवोको आकर्षण करलेता है। उनहीमे आशक्त होकर यह ससारी प्राणी इन्द्रियसुखका भोग कर लेता हे। यह इन्द्रिय सुख पराधीन है-पुण्य कर्मके आधीन है, इसलिये त्यागने योग्ग है। अतीद्रिय सुख स्वाधीन है, इसलिये ग्रहण करने योग्य है। ऐसा जानकर शुद्धोपयोगकी भावना नित्य करनी योग्य है है ॥७४॥

सोक्खं सहावसिद्धं, णत्थि सुराणंपि सिद्धमुवदेसे।
ते देहवेदणट्टा रमंति विसयेसु रम्मेसु ॥ ७५ ॥

सौख्य स्वभावसिद्ध नास्ति सुराणामपि सिद्धमुपदेशे।
ते देहवेदनार्त्ता रमन्ते विषयेषु रम्येषु ॥ ७५ ॥

अर्थ —इस गाथामे आचार्यने यह बतादिया है कि सच्चा सुख आत्माका निज स्वभाव हैं जिस सुखके लिये किसी परपदार्थ की वाछा नही होती है। न वहा कोई आकुलता, चिता व तृषाकी दाह होती है। वह सुख निज आत्माके अनुभवसे प्राप्त होता है। इसके सामने यदि इन्द्रियजनित सुखको देखा जावे तो वह दु खरूप ही प्रतीत होगा। जिनके मिथ्यात्त्व और कषायका दमन होगया है ऐसे वीतराग सम्यग्दृष्टी जीव इसी आनन्दका निरतर अनुभव करते हैं उनको कभी भी इन्द्रिय विषय भोगकी चाहकी दाह सताती नही है। किन्तु जो मिथ्यादृष्टी अज्ञानी बहिरात्मा है चाहे वे देवगतिमे भी क्यो न हो तथा जिनको स्वात्मानुभवके लाभके विना इस अतीन्द्रिय आनन्दका स्वाद नही विदित है वे विचारे निरतर इन इन्द्रियोको विषयभोगकी ज्वालासे जला करते है और अनेक

आपत्तियोको सहकर भी क्षणिक विपयसुखको भोगना चाहते हैं। वे वरावर तृषावान होकर वडे उद्यमसे विपयभोगकी सामग्रीको पाकर उसे भोगते हैं परन्तु तृषाकी वुझानेकी अपेक्षा उल्टी वढा लेते है। जिससे उनकी चाहकी आकुलता कभी मिटती नही वे असख्यात वर्षोंकी आयु रखते हुए भी दु खी ही वने रहते हैं–उनकी आत्माको सुख शातिका लाभ होता नही। टीकाकारने जो दृष्टात दिया हैं कि मूर्ख प्राणी एक मधुकी वू दके लोभसे आगे आनेवाली आपत्तिको भूल जाता है सो विलकुल सच है–मरण निकट है। परलोकमे क्या होगा इस सव विचारको अपने लिये भूलकर आप रातदिन विषय-भोगमे पडा रहता है। उसीकी दशा उस अज्ञानीकी तरह होती है जिसका वर्णन स्वामी पूज्यपादजीने इष्टोपदेशमे किया हैं —

विपत्तिमात्मनो मूढ· परेषामिव नेक्षते ।
दह्यमानमृगाकीर्णवनातरतरुस्थवत् ॥ १४ ॥

भाव यह है कि मूर्ख अज्ञानी जैसे दूसरोके लिये आपत्तियोका आना देखता है वैसा अपने लिये नही देखता है। जैसे जलते हुए वनके भीतर वृक्षके ऊपर वैठा हुआ कोई मनुष्य मृगोका भागना व जलना देखता हुआ भी आप निश्चित वैठा रहे अपना जलना होनेवाला है इसको न देखे। वहिरात्मा अज्ञानी जीवो की यही दशा है। वे विचारे निजानदको न पाकर इसी विपयसुख मे लुब्धायमान रहते है। यहा पर यह शका होगी कि सराग सम्यग्दृष्टी जीव फिर विपयभोग क्यो करते है क्योकि अविरत सम्यग्दृष्टीको भी स्वात्मानुभव हो जाता है वह अतीद्रिय आनन्दका लाभ कर लेता है फिर भी गृहस्थ अवस्थामे पाचो इन्द्रियोके भोगोमे क्यो जाते हैं क्यो नही सर्व प्रपचजाल छोडकर निजानदका भोग करते हैं ? इस शकाका समाधान यह है कि अविरत सम्यग्दृष्टियोके अनन्तानुवन्धी कषाय तथा मिथ्यात्व कर्म उदयमे नही

है इसीमे उनके यथावत् श्रद्धान और ज्ञान तो हो गया है परन्तु चारित्र यद्यपि मिथ्या नही है तथापि बहुत ही अल्प है। क्योंकि अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों का उदय है। इन कषायोके उदयमे पूर्व संस्कारके वश जानते हुए भी व श्रद्धान करते हुए भी कि ये इन्द्रियसुख अतृप्तिकारी, बन्धकारक, तृष्णाको वृद्धि करनेवाला है वे विचारे इन्द्रियभोगोमे पड जाते है और भोग लेते हैं। यद्यपि वे अपनी निन्दा गर्हा करते रहते हैं तथापि आत्मबलकी व वीतरागताकी कमीसे इतने पुरुषार्थी नही होते जो अपने श्रद्धान तथा ज्ञानके अनुकूल सदा वर्तन कर सके, परन्तु मिथ्यादृष्टीकी तरह आकुलव्याकुल व तृषातुर नही होते है। चाह होनेपर उसकी शमनताके लिये योग्य विषयभोग कर लेते है। उनकी दशा उन जीवोके समान होती है जिनको किसी नशा पीनेकी आदत पड गई थी-किसीके उपदेशसे उसके पीनेकी रुचि हट गई है। तोभी त्याग नही कर सके तब तक उस नशाको लाचारीसे लेते रहते हैं। जिनके अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय शमन हो गई परन्तु प्रत्याख्यानावरणीय कषाय उदयमे है उनके चाह अधिक घट जाती हे परन्तु वे भी सर्वथा इन्द्रिय भोग छोड नही सक्ते। अपनी निन्दा गर्हा करते रहते व तत्वविचार व स्वात्ममननके अभ्याससे जब आत्मशक्ति बढ जाती तथा प्रत्याख्यानावरणीय कषाय भी दमन होजाती तब वे विषयभोग सर्वथा त्यागकर साधु होकर जितेन्द्रिय रहते हुए ज्ञान ध्यानका मनन करते है। इससे नीचेकी अवस्थाके दो गुणस्थानोमे जो विषय सुखका भोग है वह उनके ज्ञान व श्रद्धानका अपराध नही है किन्तु उनके कषायके उदयका अपराध है सो भी त्यागने योग्य है। यह बात अच्छी तरह ध्यान मे लेनेकी

है कि सुख निराकुलता रूप है वह निज आत्म ध्यानमे ही प्राप्त होसक्ता है। पर पदार्थोमे रागद्वेष करना सदा ही आकुलताका मूल है। ये रागद्वेप विपयकी आशक्तिके वश होजाते है इसलिये विपय सुखकी आशक्ति बिलकुल छोडने योग्य है। श्री समतभद्राचार्यने स्वयभू स्तोत्रमे यही भाव दर्शाया है—

स चानुवन्धोस्य जनस्य तापकृत् तृपोभिवृद्धिः सुखतो न च स्थिति ।

इति प्रभो लोकहित यतो मत, ततो भवानेवगति. सता मत. ॥२०॥

भाव यह है कि यह विपयो की आशक्ति मनुष्यको क्लेश देने वाली है तथा तृष्णाकी बराबर वृद्धिको करनेवाली है। तथा विषयसुखको पाकर भी इस प्राणीकी अवस्था सुख व सतोषरूप नही रहती है। जबतक एक पदार्थ मिलता नही उसके मिलनेकी आकुलता रहती, यदि वह मिल जाता है तो उसकी रक्षाकी आकुलता रहती, यदि वह नष्ट होजाता है तो उसके वियोग की आकुलता रहती है। एक विपय मिलनेपर सतोपसे बैठना होता नही अन्य अन्य विपयकी तृष्णा बढती चली जाती है। हे प्रभु! अभिनदन स्वामी! आपका लोकोपकारी ऐसा मत है इसी लिये मोक्षार्थी ज्ञानी पुरुषोके लिये आप ही शरणके योग्य हैं। ऐसा जान इद्रिय सुखको सुखरूप नही किन्तु दु खरूप समझकर अतीद्रिय सुखके लिये निज आत्माका अनुभव शुद्धोपयोगके द्वारा करना योग्य है ॥७५॥

णरणारयतिरियसुरा, भजंति जदि देहसंभवं दुक्खं ।

किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं ॥७६॥

नरनारकतिर्यक्सुरा भजंति यदि देहसंभवं दुःखम्।
कथं स शुभो वाऽशुभ उपयोगो भवति जीवानाम् ॥७६॥

अर्थः—यहां आचार्यने सांसारिक दुःख तथा सुखको समान बता दिया है। क्योंकि दोनों ही आकुलतारूप व आत्माकी शुद्ध परिणतिसे विलक्षण तथा बंध रूप हैं। जैसे शरीरमें रोगादिकी पीड़ा होनेसे कष्ट होता है वैसे इंद्रियों की विषयचाह द्वारा जो आशक्ति पैदा होती है और उस आशक्ति के वश किसी पर पदार्थमें यह रंजायमान होता है उस समय क्षणभरके लिये जो अज्ञानसे सातासी मालूम पड़ती है उसीको सुख कहते हैं, सो वह उस क्षणके पीछे तृष्णाको बढ़ानेसे व पुनः विषयभोगकी इच्छाको जगानेसे तथा राग गर्भित परिणाम होने से बधकारक है इस कारणसे दुःख ही है। वास्तवमें सांसारिक सुख सुख नहीं है किन्तु घनी विषय चाहरूप पीड़ाकी कुछ कमी होनेसे दुःखकी जो कमी कुछ देरके लिये होगई है उसीको व्यवहारमें सुख कहते हैं। असलमें दुःखकी अधिकताको दुःख व उसकी कमीको सुख कहते हैं। वह कमी अर्थात् सुखाभास और अधिक दुःखके लिये कारण है। जैसे कोई मनुष्य नंगे पग ज्येष्ठकी धूपकी आताप में चला जाता हुआ गर्मीके दुःखसे अति दुःखी हो जंगल में कहीं एक छायादार वृक्ष देखकर वहां घबड़ाकर जाकर विश्राम करता है। जबतक वह ठहरता है तबतक कुछ गरमीके कम होनेसे उसको सुखसा भासता है। वास्तवमें उसके दुःखकी कमी हुई है फिर जैसे ही वह चलने लगता है उसको अधिक गरमीकी पीड़ा सताती है। इसी तरह सांसारिक सुखको मात्र कोई दुःखकी कुछ देरके लिये शांति समझनी चाहिये। जहां पहले व पीछे आकुलता हो वह सुख कैसे? वह तो दुःख ही हैं।

श्री गुणभद्राचार्य श्री आत्मानुशासन मे कहते हैं—

स धर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुखं यत्र नासुखं ।
तज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानं सा गतिर्यत्र नागति ॥४६॥

अर्थ —धर्म वह है जहा अधर्म नही, सुख वह है जहा दु ख नही, ज्ञान वह है जहा अज्ञान नही, गति वह है जहासे लौटना नही। वास्तवमे सासारिक सुख दु ख दोनोमे अपने ही राग-द्वेपक भोग है। रागका भोग सुख है, द्वेपका भोग दु ख है। जब कोई प्राणी किसी भी इन्द्रियके विषयमे आशक्त हो उसी तरफ रागी हो जाता है और अन्य सब विषयोसे छूट जाता है तब ही उसको सुख भासता है। ऐसे विषयभोगके समय रति अथवा तीनो वेदोमेसे कोई वेद या हास्य ऐसे पाच नोकपायोमेसे कोई तथा लोभ या मायाका उदय रहता ही है—इनहीके उदयको राग कहते हैं। इसीका अनुभव सुख कहलाता है। दु खके समय द्वेपका भोग है। शोक, भय, जुगुप्सा, अरति इनमेसे किसीका उदय तथा मान या क्रोधके उदयको ही द्वेप कहते हैं-इसी द्वेपका अनुभव दु ख है। जब किसी विपयकी चाह पैदा होती है तब राग है परन्तु उसी समय इच्छित पदार्थका लाभ न होनेसे वियोगसे शोक व ग्लानि व अरतिसी भावोमे रहती है यही दु खका अनुभव है। जब वह प्राप्त होजाता है तब रति व लोभका उदय सो सुखका अनुभव है। सुखानुभवके समय सातावेदनीय तथा दुःखानुभवके समय असाता वेदनीयका उदय भी रहता हैं। वेदनीय वाहरी सामग्रीका निमित्त मिलादेती है। यदि मोहनीयका उदय न हो और यह आत्मा वीतरागी रहे तो रागद्वेषकी प्रगटता न होनेसे इस वीतरागीको साता या असाता कुछ भी अनुभवमे न आएगी इस कारण एक अपेक्षासे रागका अनुभव सुख व द्वेपका अनुभव दु ख है। वास्तवमे कपायका स्वाद सासारिक सुख व दु ख है इसलिये यह

स्वाद मलीन तथा सक्लेशरूप है। सुख मे सक्लेश कम जव कि दु खमे सक्लेश अधिक है। ये सुख तथा दु ख क्षण क्षणमे वदल जाते हैं व एक दूसरेके कारण होजाते है। एक स्त्री इस क्षण अनुकूल वर्तन से सुखरूप वही अन्य क्षण प्रतिकूल वर्तनसे दु ख रूप भासती है। अर्थात् उपयोग जव रागका अनुभव करता है तव सुख, जव द्वेपका अनुभव करता है तव दु ख भासता है। जव दोनोमे कपायका ही भोग है तव यह सुख तथा दु ख एक रूप ही हुए—आत्माके स्वाभाविक वीतराग अतीन्द्रिय आनन्दसे दोनो ही विपरीत हैं। जव ये सुख व दुःख समान हैं तव जिस पुण्यके उदयमे सुख व जिस पापके उदयसे दुःख होता है वे पुण्य पाप भी समान हैं। जव पुण्य व पाप समान हैं तव जिस भावसे पुण्य वध होता है वह शुभोपयोग तथा जिस भावसे पाप वध होता है। वह अशुभोपयोग भी समान हैं—दोनो ही कषाय भावरुप है। पूजा, दान, परोपकारादिमे रागभावको व अन्याय, अभक्ष्य, अन्यथा आचरणसे द्वेपभावको शुभोपयोग, तथा विपयभोग व परके अपकारमे रागभावको व धर्माचरणसे द्वेपभावको अशुभ उपयोग कहते हैं। ये शुभ व अशुभ उपयोग रागद्वेप मई है। ये दोनो ही आत्माके शुद्ध उपयोगसे भिन्न है इसलिये दोनो समान है। व्यवहारमे मदकपायको शुभोपयोग व तीव्र कपायको अशुभोपयोग कहते हैं, निश्चय से दोनो ही कपायरूप हैं इसलिये त्यागने योग्य हैं। इसी तरह इन उपयोगोसे जो पुण्यकर्म तथा पापकर्म वध होते हैं वे भी दोनो पुद्गलमई हैं इसलिये आत्मस्वभावसे भिन्न होनेके कारण त्यागने योग्य हैं। श्री समयसार कलशमे श्री अमृतचन्द्राचार्यने कहा है —

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्नहि कर्मभेदः ।
तद्वन्धमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्त खलु वंध हेतु. ।। ३ ।।

अर्थ :—पुण्य पापकर्म दोनोका हेतु आत्माका अशुद्ध भाव है, दोनोका स्वभाव पुद्गलमई है । दोनोका अनुभव राग द्वेपरूप है दोनोका आश्रय एक कलुषित आतमा है इसमे इनमे भेद नही है—दोनो ही वन्ध मार्गका आश्रय किये हुए हैं तथा समस्त यह कर्म-वन्धके कारण है, इसलिये ये पुण्य पाप समान है तैसे ही इनके उदयसे जो रागद्वेष सहित साता व असाताका अनुभव होता है वह भी कपायरूप अशुद्ध अनुभव है, आत्मीक अनुभवमे विलक्षण है इसलिये समान है । आचार्यका अभिप्राय यह है कि शुभोपयोगसे पुण्यवाध जो देव या मनुष्यको सामग्री प्राप्त होती है उसीके कारण यह प्राणी रागी हो उनके रमनेको इसलिये जाता है कि विपयोकी चाह शात करूगा परन्तु उनके भोग करनेसे तृष्णाको वढा लेता है । चाहकी दाह वढ जाती है—यह दाह ही दु.ख है । इसलिये यह इन्द्रिय सुख दु खका कारण होनेसे दु.खरूप है । जव ऐसा है तव शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनो ही त्यागने योग्य हैं । क्योकि जैसे पापोदय से दु खमे आकुलता होनी है वैसे पुण्योदयसे सुखके निमित्तसे आकुलता होती है । इसलिये दोनो ही समान हैं—आत्माके शुद्ध भावसे भिन्न हैं ।

श्री समयसारजी मे कुदकुद भगवानने कहा है—

कम्ममसुहं कुसील सुहकम्म चावि जाण सुहसील ।
कहं त होदि सुसील ज ससारं पवेसेदि ॥ १५२ ॥

भाव यह है कि यद्यपि व्यवहारनयसे अशुभोपयोग रूप कर्मको कुशील अर्थात् वुरा और शुभोपयोगरूप कर्मको सुशील अथवा अच्छा कहते है, परन्तु निश्चयसे देखो तो जिसको सुशील कहते हैं वह भी कुशील है क्योकि ससारमे ही रखनेवाला है । पुण्यका उदय जव तक रहता है तव तक कर्मकी वेडी कटकर

आत्मा स्वाधीन व निराकुल सुखी नही होता है। ऐसा जान आत्माधीन सच्चे सुखके लिये एक शुद्धोपयोगकी ही भावना करनी योग्य है। शेष सर्व कपायका पसारा है जो स्वाधीनताका घातक, आकुलतारूप व वन्धका कारक है तथा ससाररूप है—एक शुद्धोपयोग ही मोक्ष रूप तथा मोक्षका कारण है इसलिये यही ग्रहण करने योग्य है ॥ ७६ ॥

इस तरह स्वतन्त्र चार गाथाओसे प्रथम स्थल पूर्ण हुआ।

कुलिसाउहचक्कधरा, सूहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं।
देहादीणं विद्धि, करेंति सुहिदा इवाभिरदा ॥ ७७ ॥

कुलिशायुधचक्रधरा· शुभोपयोगात्मकै· भोगै·।
देहादीना वृद्धि कुर्वन्ति सुखिता इवाभिरता ॥ ७७ ॥

अर्थ :—इस गाथामे आचार्यने वड़े-वडे इन्द्र व चक्रवर्ती आदि जीवोकी अवस्था वताई है कि इन जीवोने पूर्व भवमे शुभोपयोगके द्वारा वहुत पुण्य वध किया था जिससे ये ऊचे पदमे आए तथा पुण्यके उदयसे मनोज्ञ इन्द्रियोके विपय प्राप्त किये। अव वे अज्ञानसे ऐसा जानकर कि इन विपयोके भोगसे सुख होगा उन पदार्थोंमे आशक्त होकर उनको भोग लेते है, परन्तु इससे उनकी विषयचाह शात नही होती, क्षणिक कुछ वाधा कम हो जाती है उसको ये अज्ञानी जीव सुख मान लेते है, परन्तु पीछे और अधिक तृष्णामे पडकर चितावान हो जाते हैं। इस बातपर लक्ष्य नही देते। वास्तवमे जिसको सुख माना है वह उल्टा दु:खदाई हो जाता है। जैसे जोक जतु अज्ञानसे मलीन व हानिकारक रुधिरको आशक्त हो पान करती है, वह यह नही देखती है कि इससे मेरा नाश होगा व दु ख अधिक वढेगा। ऐसे ही विपयाशक्त जीवोकी दशा जाननी।

इन्द्र या चक्रवर्ती आदि देव या खास मनुष्योमे शरीरमे विक्रिया करनेकी शक्ति होती है वे विषयदाहकी दाहमे अधिक इच्छावान होकर एक शरीरके अनेक रूप बना लेते व अपने देवी आदि परिवारकी सख्या विक्रियाके द्वारा बढा लेते हैं । वे अत्यन्त आशक्त हो जाते हैं तौभी तृप्तिको न पाकर दु खी ही रहते हैं । कहनेका मतलब यह है विपयोका सुख चक्रवर्ती आदिको भी तृप्त नही कर सक्ता तो सामान्य मनुष्योकी तो वात ही क्या है ? असलमे परमहित रूप आत्मीकसुख ही है । ऐमा जान इसी सुखके लिये निरतर स्वानुभवका अभ्यास रखना योग्य है ॥७७॥

जदि संति हि पुण्णाणि य परिणामसमुब्भवाणि विविहाणि ।
जणयंति विसयतण्हं जीवाणं देवदंताणं ॥७८॥

यदि सति हि पुण्यानि च परिणामसमुद्भवानि विविधानि ।
जनयति विपयतृष्णा जीवाना देवतान्तानाम् ॥ ७८ ॥

अर्थः—यहा आचार्यने पुण्यकर्मको व उसके कारण शुभोपयोगको तथा उसके फल इद्रिय सुखको त्यागने योग्य बताया है, मुख्यतासे सकेत पुण्य कर्म्मको तरफ है । पुण्यकर्म शुभोपयोगके द्वारा नानाप्रकार साता वेदनीय, शुभनाम, शुभगोत्र तथा शुभ आयुके रूपमे वधजाता है जिसके फलसे मनोहर सातारूप वाहरी सामग्री, मनोहर शरीरका रूप, माननीय कुल तथा अपनेको रुचनेवाली आयु प्राप्त होती है । भोगभूमिके तिर्यंच तथा मनुष्य पुण्य कर्मसे ही होते हैं । कर्मभूमिमे वहुतसे पशु तथा मनुष्य साताकारी सामग्री प्राप्तकर लेते हैं । भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी तथा कल्पवासी देवोंके भी पुण्यफलसे वहुत मनोज्ञ देह देवी आदि सामग्री होती है । सर्वसे अधिक साताकी सामग्री देवेन्द्र तथा चक्रवर्ती नारायण प्रति नारायण आदि पदवीधारियोके होती है ।

इनमे जो जीव सम्यग्दृष्टी ज्ञानी होते है उनके परिणामोमे ये सामग्री यद्यपि चारित्रकी अपेक्षा कषायके उदयसे राग पैदा करानेमे निमित्त होती है तथापि श्रद्धानकी अपेक्षा कुछ विकार नही करती है। परन्तु जो मिथ्यादृष्टी बहिरात्मा आत्मज्ञान रहित जीव होते है उनके परिणामोमे बाहरी सामग्री उसी तरह विषयकी तृष्णाको बढा देती है जिस तरह ईंधनको पाकर अग्नि अपने स्वरूपका बढा देती है। अन्तरङ्ग मोह राग द्वेष की वृद्धि करनेमे बाहरी पदार्थ निमित्त कारण है। यह क्षेत्रादि बाहरी परिग्रह जब सम्यग्दृष्टियोंके भीतर भी रागादि भावोंके जगानेमे निमित्त कारण है तब मिथ्यादृष्टियोंकी तो बात ही क्या कहनी—बडे २ क्षायिक सम्यक्ती तीर्थंकर भी इस बाहरी परिग्रहके निमित्तसे वीतराग परिणतिका पूर्णपने नही कर सकते। यही कारण है जिससे वे गृहवास त्याग परिग्रह भारको पटक निर्जन वनमे जाकर आत्मध्यान करते है। अन्तरङ्ग रागादि व मूर्छारूप परिग्रह भावके लिये बाहरी क्षेत्रादि निमित्त कारणरूप नोकर्म है इसीसे उपचारसे क्षेत्रादिको भी परिग्रहके नामसे कहाजाता है। अज्ञानी जीव पुण्यके उदयमे चक्रवर्ती होकर भी घोर उन्मत्त होकर घोर पाप बाध लेते है और सातवें नर्क तक चले जाते है। इसलिये मुख्यतासे ये पुण्य कर्म अज्ञानियोंके भीतर विषयोंकी दाहको बहुत ही बढानेमे प्रबल निमित्त पड जाते है। जिस कारणसे मनोज्ञ सामग्री रहते हुए भी वे अधिक अधिक सामग्रीकी चाहमे पडकर उसके लिये आकुलित होते है यहातक कि अन्याय प्रवृत्ति भी करलेते है। सम्यग्दृष्टी जीव बाहरी सामग्रीसे इतना नही भूलते जो वस्तुके स्वरूपको न ध्यानमे रक्खें किन्तु वे भी कषायोंके उदयके प्रमाण रागी द्वेषी हो ही जाते है—वे भी प्रवृत्ति मार्गमे स्त्री, धन, पृथ्वी आदिमे राग करलेते व उनकी वृद्धि व रक्षा अच्छी तरह करते है। इस

तरह यह सिद्ध है कि पुण्यकर्म अतरग चाहकी दाहको जगानेमें प्रवल निमित्त सामने रख देते हैं, यदि ऐसा न हो तो कोई भी विषयभोगोमें रति न करे । इसलिये ये पुण्यकर्म भी ससार वढानेके कारण होजाते हैं अत ग्रहणकरनेयोग्य नही है । तव जिस शुभउपयोगसे पुण्यकर्मका वध होता है वह भी उपादेय नहीं है । उपादेय एक शुद्धोपयोग है जो कर्मका नाशक है, विषयदाहको शातिकारक है तथा निनानन्दका प्रवर्तक है इसलिये इसकी ही भावना निरन्तर कर्तव्य है, यह भाव है ।।७८।।

ते पुण उदिण्णतण्हा, दुहिदा तण्हाहि विसयसोक्खाणि ।
इच्छंति अणुहवंति य आमरणं दुक्खसतत्ता ।।७९।।

ते पुनरुदीर्णतृष्णाः दु खितास्तृष्णाभिर्विषयसौख्यानि ।
इच्छन्त्यनुभवन्ति च आमरणं दु खसंतप्ता ॥ ७९ ॥

अर्थ :—इस गाथामे फिर भी आचार्यने पहली वातको समर्थन किया है । ससारमे मिथ्यादृष्टि जीवोके तृष्णाको उत्पन्न करनेवाला तीव्र लोभका सदा ही उदय रहता है । जहा निमित्त वाहरी पदार्थोंका नही होता है वहा वह तीव्र लोभ का उदय वाहरी कार्योंके द्वारा प्रगट नही होता है, परन्तु जहा निमित्त होता है व निमित्त मिलता जाता है वहां वह लोभ तृष्णाके नामसे प्रगट होता है । पुण्यकर्म के उदयसे जव बाहरी पदार्थ इन्द्रियोके विषयभोग योग्य प्राप्त हों जाते हैं तब वह लोभी जीव उनमे अतिशय तन्मय हो जाता है और उन सामग्रियोकी स्थितिको चाहते हुए भी और अधिक विषयभोगोकी चाह करलेना है, उस चाहके अनुसार पदार्थोंके सम्बन्ध मिलानेके लिये अनेक प्रकारके यत्न करता है, जिसके लिये अनेक कष्टोको सहता है । जब कदाचित् पुण्यके उदयसे

इच्छित पदार्थ मिल जाते हैं तब उनको भोगकर क्षणिक सुख मानलेता है परन्तु फिरभी अधिक तृष्णा बढा लेता है। उस बढी हुई तृष्णाके अनुसार फिर भी नवीन सामग्रीका सम्बन्ध मिलानेका प्रयास करता है। यदि इच्छित पदार्थ नहीं मिलते हैं तो महा दुःखी होता है, यदि कदाचित् मिलजाते हैं तो उनको भी भोगकर अधिक तृष्णाको बढा लेता है। इस तरह यह ससारी जीव पिछले प्राप्त पदार्थोंको रक्षा व नवीन विषयोंके सग्रहमे रातदिन लगा रहता है। ऐसा ही उद्यम करते करते अपना जीवन एक दिन समाप्त कर देता है परन्तु विषयोंकी दाहको कम नही करता हुआ उलटा बढाता हुआ उसकी दाहसे जलता रहता है। यदि इष्ट पदार्थोंका सम्बन्ध छूट जाता है तो उसके वियोगमे क्लेशित होता है। चीटियोंके भीतर तृष्णाका दृष्टात अच्छी तरह दिखता है। वे रात दिन अनाजका बहुत बडा समूह एकत्र कर लेती है और इसी लोभके प्रकट कायमे अपना जन्म शेष करदेती है। मिथ्यादृष्टी ससारी जीव विषयभोगको ही सुखका कारण श्रद्धान करते व जानते हुए इस अज्ञान जनित मोहसे रातदिन व्याकुल रहते हुए जैसे एक जन्मकी यात्राको बिताते है वैसे अनन्त जन्मोकी यात्राको समाप्त कर देते हैं। अभिप्राय यह है कि पुण्य कर्मोके उदयसे भी सुख शाति प्राप्त नही होती है किन्तु वे भी ससारके दुःखोके कारण पड जाते हैं। ऐसा जान पुण्यके उदयको व उसके कारण शुभोपयोगको कभी भी उपादेय नही मानना चाहिये। एक आत्मीक आनन्दको ही हितकारी जानकर उसीके लिये नित्य साम्यभावकी भावना करनी योग्य है। टीकाकारने जो जोक जतुका दृष्टात दिया है वह बहुत उचित है। कारण वे खराब खूनकी इतनी प्यासी होती है कि जितना वे इस खूनको पीती हैं उतनी ही अधिक तृष्णाको बढा लेती है और फिर-फिर उसीको पीती चली जाती है यहा तक कि

खून विकार अपना असर करता है और वे मर जाती है । यही अवस्था ससारी प्राणियोकी है कि वे विषयकी चाहमे जलते हुए मर जाते हैं । इसलिये पुण्य कर्मको दु.खका कारण जानकर उससे विराग भजना चाहिए ॥७६॥

सपर बाधासहिद विच्छिण्ण बधकारण विसमं ।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तधा ॥८०॥

सपर बाधासहित विच्छिन्न बन्धकारण विषमम् ।
यदिन्द्रियैर्लब्ध तत्सौख्य दु खमेव तथा ॥ ८० ॥

अर्थ·—इस गाथामे आचार्यने इद्रियजनित सुखको विलकुल दु खरूप ही सिद्ध किया है । वास्तवमे जिसका फल बुरा वह वस्तु वर्तमानमे अच्छी मालूम होनेपर भी काफी नही है । यदि कोई फल खानेमे मीठा हो परन्तु रोग पैदा करनेवाला हो व मरण देनेवाला हो तो वह फल अनिष्ठ कहलाता है, बुद्धिमान लोग ऐसे फलको कभी भी ग्रहण नही करते । यही बात इद्रिय सुखके साथ सिद्ध होती है । इद्रियोके भोगसे जो स्पर्शके द्वारा, स्वादके द्वारा, सूंघनेके द्वारा, देखनेके द्वारा तथा सुननेके द्वारा सुख प्रगट होता है वह सुख वास्तवमे सुख नही है किन्तु सुखसा भास होता है । वह तो असलमे दु ख ही है क्योकि उसमे नीचे लिखे पाच दोष हैं । पहला दोष यह है कि वह पराधीन है क्योकि जबतक विषयोको ग्रहण करनेवाली इद्रिया काम करने योग्य ठीक न हो व जबतक इच्छित पदार्थ भोगनेमे न आवे तबतक इद्रिय सुख पैदा नही होता है । यदि दोनोमे एककी कमी होगी तो यह सुखाभास भी नही भासेगा किन्तु उल्टा दु खरूप ही झलकेगा । बडी भारी पराधीनता इस सासारिक सुखमे है । इद्रियें ठीक होने पर भी व चेतन व अचेतन पदार्थरहने पर भी यदि पर पदार्थोंका

परिणमन या वर्तन भोगनेवालेके अनुकूल नही होता है तो यह सुख नही मिलता है। इसमे भी बडी भारी पराधीनता है। दूसरा दोष यह है कि यह बाधाओंसे पूर्ण है। जबतक चाहे हुए पदार्थ नही मिलते है तबतक उनके सयोग मिलानेके लिये बहुत कष्ट उठाना पडता है। यदि पदार्थ मिल जाते है और वे अपनी इच्छाके अनुसार नही वर्तन करते है तो इस मोही जीवको बडा कष्ट होता है और कदाचित् वे नष्ट हो जाते है तो उनके वियोगमे दुःख होता है इसलिये ये इद्रियसुख बाधाओंसे पूर्ण है। तीसरा दोष यह है कि यह इद्रियजनित सुख नाश होजाता है क्योकि यह साता वेदनीय कर्मके आधीन है, जिसका उदय बहुत कालतक नही रहता है। साताके पीछे असाताका उदय हो जाता है, जिससे सासारिक सुख नष्ट हो जाता है। अथवा अपनी शक्ति नष्ट हो जाती है व पदार्थ नष्ट हो जाता है अथवा इस इद्रिय विषयको भोगते हुए उपयोग बदलता जाता है। चौथा दोष यह है कि यह इद्रियजनित सुख कर्मबन्धका कारण है क्योकि इस सुखके भोगमे तीव्र रागकी प्रवृत्ति होती है। जहा तीव्र विषयोका राग है वहा अवश्य अशुभ कर्मका बन्ध होता है। पाचवा दोष यह है कि इस इद्रियसुखके भोगमे समताभाव नही रहता है एक विषयको भोगते हुए दूसरे विषयकी कामना हो जाती है अथवा यह सुख एकसा नही रहता है—हानि वृद्धिरूप है। इस तरह इन पाचो दोषोसे पूर्ण यह इद्रियसुख त्यागने योग्य है। अनन्तकाल इस ससारी प्राणीको पाचो इन्द्रियोको भोगते हुए वीता है परन्तु एक भी इन्द्री अभीतक तृप्त नही हुई है। जैसे समुद्र कभी नदियोसे तृप्त नही होता है वैसे कोई भी प्राणी विषयभोगोसे तृप्त नही होता। इसलिये यह सुख वास्तवमे सुखदाई व शाति-कारक नही है। जबकि आत्माके स्वभावके अनुभवसे जो

अतीन्द्रियसुख पैदा होता है वह इन पाचों दोषोंसे रहित तथा उनके विरोधी गुणोसे परिपूर्ण है । आत्मीकसुख स्वाधीन है क्योंकि वह अपने ही आत्माके द्वारा अनुभवमे आता है उसमे पर वस्तुके ग्रहणकी जरूरत नही है किन्तु परवस्तुका त्याग होना ही इस सुखानुभवका कारण है। आत्मिक सुख सर्व वाधाओसे रहित अव्यावाध तथा निराकुल है । इस सुखको भोगते हुए न आत्मामें कोई कष्ट होता है न शरीरमें कोई रोग होता है । उल्टा इसके इस सुखके भोगसे आत्मा और शरीर दोनोमें पुष्टि आती है, आत्माका अन्तरायकर्म हटता है जिससे आत्मवीर्य वढ़ता है। परिणामोंमे शांति शरीर रक्षक जव कि अशाति शरीर नाशक है। यह प्रसिद्ध है कि चिता चिता समान, क्रोध दावाग्नि समान शरीरके रुधिरादिको जला देते हैं । इससे स्वरूपके अनुभवसे शरीर स्वास्थ्ययुक्त रहता है । आत्मीकसुख कर्मवन्धका कारण न होकर कर्मवन्धके नाशका वीज है, क्योकि आत्मानुभवमें जो वीतरागता होती है वही कर्मोंकी सत्ताको आत्मामेसे हटाती है । अतीन्द्रिय सुख आत्माका स्वभाव है इसलिये अविनाशी है । यद्यपि स्वानुभवी छद्मस्थ जोवोंके धारावाही आत्मसुख नही स्वादमें आता तथापि वह स्वाधोन होनेसे नाशरहित है । धारावाही स्वाद न आनेमे वाधक कषाय है। सुखका स्वरूप नाशरूप नहीं है। तथा आत्मिकसुख समता रूप है। जितनी समता होगी उतना ही इस सुखका स्वाद आवेगा। इस सुखके भोगमें आकुलता नही है न यह अपनी जातिको वदलता है । यह सुख तो परमतृप्ति तथा सतोषको देनेवाला है । ऐसा जान आत्मजन्य सुखको ही सुख जानना चाहिये और इद्रिय सुखको विलकुल दु.ख रूप ही मानना चाहिये । इससे यह सिद्ध किया गया है कि जिस पुण्यके उदयसे इद्रिय सुख होता है उस पुण्यका कारण जो शुभोपयोग है

वह भी हेय है। एक साम्यभावरूप शुद्धोपयोग ही ग्रहण करने योग्य है।

इस तरह जीवके भीतर तृष्णा पैदा करनेका निमित्त होनेसे यह पुण्यकर्म दु खके कारण हैं ऐसा कहते हुए दूसरे स्थलमे चार गाथाए पूर्ण हुईं ॥८०॥

ण हि मण्णदि जो एव, णत्थि विसेसोत्तिपुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमवारं, ससारं मोहसछण्णो ॥८१॥

न हि मन्यते य एव नास्ति विशेप इति पुण्यपापयो ।
हिण्डति घोरमपार ससार मोहसच्छन्न ॥८१॥

अर्थ :—यहा आचार्यने शुद्ध निश्चयनयको प्रधानकर यह वतादिया है कि पुण्य और पापकर्ममे कोई भेद नही है। दोनो ही वघरूप हैं, पुद्गलमय हैं, आत्माके स्वभावसे भिन्न हैं। आत्माका स्वभाव निश्चयसे शुद्ध दर्शन ज्ञान स्वरूप परम समता भावमई है। कषायकी कालिमासे रहित है। शुभोपयोग यद्यपि व्यवहारमे शुभ कहा जाता है परन्तु वह एक कषायसे रगा हुआ ही भाव है। अशुभोपयोग जब तीव्र कषायसे रगा हुआ भाव है तव शुभोपयोग मद कषायसे रगा हुआ भाव है। कषाय की अपेक्षा दोनो ही अशुद्धभाव हैं इसलिये दोनो ही एक रूप अशुद्ध हैं। इस ही तरहमे इन शुभ तथा अशुभ भावोसे वधा हुआ सातावेदनीयादि द्रव्य पुण्य तथा असाता वेदनीय आदि द्रव्य पाप भी यद्यपि सुवर्ण वेडी और लोहेकी वेडीके समान व्यवहार नयसे भिन्न-भिन्न है तथापि पुद्गल कर्मकी अपेक्षा दोनोही समान हैं। ऐसे ही पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त सासारिक सुख तथा पापकर्मके उदयसे प्राप्त सासारिक दु ख यद्यपि साता असाताकी अपेक्षा भिन्न-भिन्न है तथापि निश्चयसे आत्माके स्वाभाविक

आनन्दसे विपरीत होनेके कारण समान हैं। आत्माके शुद्धोपयोगको, उसकी अबंध अवस्थाको तथा अतीन्द्रिय आनन्दको जो पहचानकर उपादेय मानते हैं वे ही संसारसे पार होजाते हैं, परन्तु जो ऐसा नहीं मानते हैं वे मिथ्यात्वकर्मसे अज्ञानी रहते हुए शुभोपयोग, पुण्यकर्म तथा सांसारिक सुखोंको उपादेय और अशुभोपयोग, पापकर्म कथा दुःखोंको हेय जानते हुए रागद्वेप भावोंमें परिणमन करते हुए इस भयानक संसारवनमें अनन्तकाल तक भटकते रहते हैं। उग जीवोंको पांच इन्द्रियमई सुख ही सुख भासता है, जिसके लिये वे तृपातुर रहते हैं और उस सुखको प्राप्ति बाहरी पदार्थोंके संयोगसे होगी ऐसा जानकर चक्रवर्ती व इन्द्र तकके ऐश्वर्यकी कामना किया करते हैं। इस निदानभावसे वे द्रव्यलिंग धारकर मुनि धर्म भी पालते हैं तथापि प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही ठहरे हुए अनन्त संसारके कारण होते हैं। यहां आचार्यके कहनेका तात्पर्य यह है कि इन अशुद्ध भावोंसे तथा पुण्य पापकर्मोसे आत्माको साम्यभावकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। अतएव इन सबसे मोह त्याग निज शुद्धोपयोग या साम्यभावमें भावना करनी योग्य है जिससे यह आत्मा अपने निज स्वभावका विलास करनेवाला हो जावे ॥ ८१ ॥

एवं विदिदत्थो जो दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा ।
उवओगविसुद्धो सो, खवेदि देहुब्भवं दुःखं ॥ ८२ ॥

एवं विदितार्थो यो द्रव्येपु न रागमेति द्वेपं वा ।
उपयोगविशुद्धः स क्षपयति देहोद्भवं दुःखं ॥ ८२ ॥

अर्थ :—यहां आचार्यने संसारके सर्व दुःखोंके नाशका उपाय एक शुद्ध आत्मीकभाव है ऐसा प्रगट किया है। तथा बताया है कि जैसे गर्म लोहेकी संगतिमें अग्नि नाना प्रकारसे पीटे

जानेकी चोटको सहती है उस ही तरह यह मोही जीव शरीरकी सगतिमे नाना प्रकारके दु खोको सहता है। परन्तु जिसने इस देहको व उसके आश्रित पाचो इन्द्रियोको व उन इन्द्रिय सम्बन्धी पदार्थोंको तथा उनमे होनेवाले सुखको आकुलताका कारण, ससारका वीज तथा त्यागने योग्य निश्चय किया है और देह रहित आत्मा तथा उसकी वीतरागता और अतीन्द्रिय आनन्दको ग्रहण करने योग्य जाना है वही पदार्थोंके स्वरूपको यथार्थ जाननेवाला है। ऐसा तत्वज्ञानी जीव निज आत्माके सिवाय सर्व पर द्रव्योमे राग या द्वेष नही करता है किन्तु उनको उनके स्वभावरूप समता-भावसे जानता है वह निर्मल शुद्ध भावका धारी होता हुआ शुद्धोपयोगमे लीन रहता है। और इस आत्मध्यानकी अग्निसे उन सर्व कर्मोंको ही भिन्न कर देता है जो ससारके दु खोके वीज है। तात्पर्य यह है कि ससारको पराधीनतासे मुक्त होकर स्वाधीन होनेके लिये यही उपाय श्रेष्ठ है कि निज शुद्ध आत्मामे ही श्रृद्धान, ज्ञान तथा चर्य्या प्राप्त की जावे। लोह-पिडसे रहित अग्नि जैसे स्वाधीनतासे जलती हुई काष्ठको जला देती है वैसे आत्माका शुद्ध उपयोग रागद्वेपसे रहित होता हुआ आठकर्मके काठको जला देता है और निजानन्दके समुद्रमे मग्न होकर निज स्वाभाविक स्वाधीनताको प्राप्त कर लेता है। अतएव शुभ अशुभसे रागद्वेप छोड दोनोको ही समान जानकर एक शुद्धोपयोगमई साम्यभावमे ही रमणता करनी योग्य है ॥ ८२ ॥

इस तरह सक्षेप करते हुए तीसरे स्थलमे दो गाथाए पूर्ण हुई। ऊपर लिखितप्रमाण शुभ तथा अशुभकी मूढताको दूर करनेकेलिये दश गाथाओ तक तीन स्थलोके समुदायसे पहली ज्ञान-कठिका पूर्ण हुई।

चत्ता पावारंभं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्मि ।
ण जहदि जदि मोहादी, ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं ॥

त्यक्त्वा पापारंभं समुत्थितो वा शुभे चरित्रे ।
न जहाति यदि मोहादीन्न लभते स आत्मकं शुद्धं ॥ ८३ ॥

अर्थ :—यहां आचार्यने यह बताया है कि परम सामायिक भाव ही आत्माकी शुद्धिका कारण है । जो कोई घरमे उदास होकर मुनिकी दीक्षा धारण करले और सब गृह सम्बन्धी पापके व्यापारोंको छोडदे तथा साधुके पालने योग्य २८ मूल गुणोंको भलीभांति पालन करे अर्थात् व्यवहार चारित्रमे वर्तन करने लग जावे परन्तु अपने अन्तरंगमे संसार सम्बन्धी मोहको व विषयोंकी इच्छाको नहीं त्यागे तो वह शुद्ध उपयोगमई सामायिक भावको नहीं पाता हुआ न शुद्ध आत्माका अनुभव कर सक्ता है और न कभी अपनेको शुद्धकर परमात्मा हो सकता है। कारण यही है कि उसके भीतर मोक्ष साधक रत्नत्रयका अभाव है। जो भव्य जीव सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिसे केवल शुद्ध आत्माका व उससे उत्पन्न वीतराग परिणति तथा अतीन्द्रिय सुखका प्रेमी हो जाता है और संसारके जन्ममरणमय प्रपंचजालसे व विषयभोगोंसे मोह व रागद्वेष छोड देता है तथा इसीलिये इन्द्र, चक्रवर्ती, नारायण आदिके पदोंकी अभिलाषा नहीं रखता है वही जीव अपने शुद्ध आत्मीक स्वभावके सिवाय अन्य भावोंको व पदार्थोंको नहीं चाहता हुआ तथा केवल आत्मीक अनुभवका स्वादी होता हुआ गृहवासको आकुलताका कारण जानकर त्याग देता है तथा मुनिअवस्थाको निश्चय शुद्धात्मामें रमणरूप चारित्रका निमित्त कारण जानकर धारण कर लेता है और व्यवहार चारित्रमे मोही न होता हुआ उसे पालते हुए निर्विकल्प समाधिरूप परम सामायिक

भावमे तिष्ठता है। तथा इसी शुद्धभावका निरन्तर अभ्यास रखता है वही आत्मा पूर्ववद्ध कर्मोंकी निर्जरा करता हुआ एक दिन जिन केवली भगवान और फिर सिद्ध परमात्मा हो जाता है। परन्तु यदि कोई मुनि होकर भी वीतराग भावको छोडकर मोही या रागी द्वेषी हो जाता है तो वह आत्मा शुद्धोपयोगको न पाकर केवल शुभोपयोगमे वर्तन करता हुआ कभी भी शुद्ध आत्माको नही पाता है। उल्टा वह जीव शुभोपयोगके फलसे पुण्य वाध विषयोकी सामग्रीमे उलझकर ससारके चक्रमे भ्रमण किया करता है। श्री अमृतचन्द्र आचार्यने समयसार कलशोमे कहा भी है

वृत्त ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवन सदा ।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥

भाव यह है कि ज्ञानस्वभावसे वर्तन करना ही सदा ज्ञानरूप रहना है। क्योकि ज्ञान स्वरूपमे वर्तन करना आत्म द्रव्यका स्वभाव है इसलिये यही मोक्षका कारण है। वास्तवमे शुभोपयोग मोक्षका कारण नही है। मोक्षका कारण शुद्धोपयोग है। अतएव सर्व विकल्प छोडकर एक शुद्ध आत्माका ही अनुभव करना योग्य है इसी स्वात्मानुभवके द्वारा यह जीव शुद्ध स्वभावको प्राप्त कर लेता है ॥ ८३ ॥

तवसजमप्पसिद्धो, सुद्धो मग्गापवरग करो ।
अमरासुरिदमहिदो, देवो सो लोयसिहरत्थो ॥८४॥

तपसयमप्रसिद्ध शुद्ध स्वर्गापवर्गमार्गकर ।
अमरासुरेन्द्रमहितो देव सो लोकशिपरस्थ ॥८४॥

अर्थः—यहा आचार्यने वताया है कि यह शुद्धोपयोगका ही प्रताप है जिमके वलसे श्री जिन सिद्ध परमात्माका स्वरूप प्राप्त होता है। श्री सिद्ध परमात्मा वास्तवमे कोई भिन्न पदार्थ

नही है । यही ससारी आत्मा जब निश्चयतप व निश्चय सयममे उपयुक्त होकर अभ्यास करता है तब आप ही कर्मोके आवरणसे रहित हो अपनी शक्तिको प्रगट कर देता है । सर्व पर पदार्थोकी इच्छाओको त्यागकर निज शुद्ध स्वरूपमे लीन होकर ध्यानकी अग्निको जलाना तप है । तथा सर्व इन्द्रियोके विषयोको रोककर व मुनिके चारित्र द्वारा पृथ्वीकायिकादि छः कायके प्राणियोका रक्षक होकर शुद्धात्मामे डटे रहना तथा साम्यभावमे परिणमना रागद्वेष न करना सो सयम है । इन तप सयमोके द्वारा ही रागद्वेषादि भाव मल व ज्ञानावरणादि द्रव्य मल कट जाता है और यह आत्मा शुद्ध वीतराग जिन हो जाता है । तब अरहत अवस्थामे स्वर्ग व मोक्षका कारण जो रत्नत्रय धर्म है उसका उपदेश करता है तबा भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी तथा कल्पवासी देवोके इन्द्र जिनको किसी सासारिक भावसे नही किन्तु उसी शुद्ध पदकी भावना करके पूजते है तथा जब अघातिया कर्मोका भी अभाव हो जाता है तब वह देव शरीर त्याग ऊर्द्धव-गमन स्वभावसे ऊपर जाकर लोकाकाशके अन्त ठहर जाते है तब उनको सिद्ध परमात्मा कहते है । सिद्ध अवस्थामे यह परमात्मा निरन्तर स्वानुभूतिमे रमण करते रहते है । वहा न कोई चिन्ता है न आकुलता है, न बाधा है । जिन आत्माओके भीतर ससारकी वासनासे राग है वे शुभोपयोगमे ही रहते हुए ससारके ऊच नीच पदोमे भ्रमण किया करते है उनको आत्माका शुद्ध अविनाशी सिद्ध पद कभी प्राप्त नही होता है । इसलिये तात्पर्य यह है कि इसी शुद्ध पदके लिये शुद्धोपयोगकी भावना करनी चाहिये । श्री समयासार कलशोमे श्री अमृतचन्द्राचार्यजीने कहा है—

पदमिद ननु कर्मदुरासद सहजबोधकला सुलभं किल ।
तत इद निजबोधकलाबलात्कलयितुं पततां स्तत जगत् ॥ ११ ॥

भाव यह है कि यह शुद्ध पद शुभ कर्मोके द्वारा प्राप्त नही हो सकता । यह पद स्वाभाविक ज्ञान की कला द्वारा ही सहजमे मिलता है इसलिये जगतके जीवोको आत्मज्ञान की कलाके बलसे इस पदके लिये सदा यतन करना चाहिये ॥८४॥

तं देवदेवदेवं जदिवरवसहं गुरुं तिलोयस्स ।
पणमंति जे मणुस्सा, ते सोक्खं अक्खयं जंति ॥८५॥

त देवदेवदेव यतिवरवृषभ गुरु त्रिलोकस्य ।
प्रणमति ये मनुष्या ते सौख्य अक्षय यान्ति ॥८५।-

अर्थ —यहाँ आचार्यने उपासकके लिये यह शिक्षा दी है कि जो जैसा भावै सो तैसा होजावै । अविनाशी अनत अतीद्रिय सुखका निरतर लाभ आत्माकी शुद्ध अवस्थामे होता है । उस अवस्थाकी प्राप्तिका उपाय यद्यपि साक्षात् शुद्धोपयोगमे तन्मय होकर निर्विकल्प समाधिमे वर्तन करना है तथापि परम्परायसे उसका उपाय अरहत और सिद्ध परमात्मामे श्रद्धा जमाकर उनको नमस्कार करना, पूजन करना, स्तुति करना आदि है । यहा गाथामे पूज्यनीय परमात्माके तीन विशेषण देकर यह बतलाया है कि वह परमात्मा उत्कृष्ट देव हैं । जिनको भवनवासी, व्यतर, ज्योतिषी व कल्पवासी देव नमन करते हैं ऐसे इन्द्र वे भी जिनकी सेवा करते हैं इसलिये वे ही सच्चे महादेव हैं । जो मोक्षके लिये साधु पद धार यतन करे उसको यति कहते है उनमे वडे श्री गणधर देव हैं । उनसे भी वडे श्री परमात्मा हैं । इस विशेषणसे यह बतलाया है कि वे परमात्मा केवल इन्द्रोसे ही आराधने योग्य नही हैं किन्तु उनकी भक्ति श्री गणधर आदि परम ऋषि भी करते हैं । तीसरे विशेषणसे यह बताया है कि उनमे ही तीन लोकके प्राणियोकी अपेक्षा गुरुपना है क्योकि जब तीन लोकके ससारी

जोव अल्पज्ञानो व मद या तीव्र कपाययुक्त हैं तथा जन्ममरण सहित हैं तव वह परमात्मा अनतज्ञानी, वीतरागी तथा जन्म-मरणादि दोप रहित है। प्रयोजन यह है कि आत्मार्थी पुरुपको अन्य ससारो रागी द्वेपी देवोंकी आरावना त्यागकर ऐसे ही अरहत व सिद्ध परमात्माका आरावन करना योग्य है ॥८५॥

जो जाणदि अरहंतं, दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्य लयं ॥८६॥

यो जानात्यर्हन्त द्रव्यत्वगुणत्त्वपर्ययत्त्वैः ।
स जानात्यात्मान मोह खलु याति तस्य लयम् ॥८६॥

अर्थ —यहाँ आचार्यने वतलाया है कि जो कोई चतुर पुरुष अरहत भगवानकी आत्माको पहचानता है वह अवश्य अपने आत्माको जानता है। क्योकि निश्चयनयसे अरहतकी आत्मा और अपनी आत्मा समान हैं। उसके जाननेकी रीति यह है कि पहले यह मनन करे। जैसे अरहत भगवानमे सामान्य व विशेप गुण हैं वैसे ही गुण मेरे आत्मामे हैं जैसे अर्थ पर्याय और व्यजन पर्याय अरहंत भगवानमे हैं वैसे अर्थ पर्याय और अपने शरोरके आकार आत्माके प्रदेशोका वर्तन रूप व्यजन पर्याय मेरे आत्मामे हैं। जैसे अरहत अपने गुण पर्यायोके आधाररूप असख्यात प्रदेशी अमूर्तीक अविनाशी अखड द्रव्य हैं वैसे मैं चैतन्यमई अखड द्रव्य हूं। अपने भावोमें इस तरह पुन. पुन विचार करते हुए अपने भाव यकायक अपने स्वरूपमे थिर होजाते हैं। अर्थात् विचारके समय सविकल्प स्वसवेदन ज्ञान होता है, थिरता के समय निर्विकल्प स्वसवेदन ज्ञान होजाता है। इस तरह वारवार अभ्यास किये जानेसे परिणामोकी विशुद्धता वढती है। इस विशुद्धताकी वृद्धिको आगममे कारणरूप परिणामोकी प्राप्ति कहते हैं जिनके

लाभके विना दर्शन मोहनीय कर्मका कमी क्षय नही होता है। इस तरह आत्मज्ञानके प्रतापसे मोहका क्षय होजाता है। मोहके उपशम होनेका भी यही प्रकार है। जब मोहका उपशम होता है तब उपशम सम्यक्त और जब मोहका नाश होता है तब क्षायिक सम्यक्त उत्पन्न होता है। अनुभव दो तरहका है एक भेदरूप दूसरा अभेदरूप। इस हारमे इतने मोती हैं इनकी ऐसी सफेदी है व ऐसी आभा है ऐसा अनुभव भेद रूप है। जब कि एक हार मात्रका विना विकल्पके अनुभव करना अभेदरूप है। तैसे ही आत्माके गुण ऐसे हैं उसमे पर्याय ऐसी है इस तरह भेदरूप अनुभव है और गुण पर्यायोका विकल्प न करके एकाकार अभेदरूप आत्मद्रव्यके सन्मुख होकर लय होना अभेदरूप अनुभव है। यहाँ कर्त्ता कर्म, ध्याता ध्येयका विकल्प नही रहता है। इसीको स्वानुभव दशा कहते हैं। जब आत्मा मोह कर्मके उदयको वलात्कार छोड देता है और अपनेमे ही ठहर जाता है तब आश्रय रहित मोह नष्ट हो-जाता है। इस तरह मोहके जीतनेका उपाय है। ऐसा हो उपाय श्री अमृतचद्र आचार्यने समयसार कलशमे कहा है —

भूत भान्तमभूतमेव रभसा निर्भिद्य बंधं सुधी-
र्यद्यन्त किलकोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात्।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्त ध्रुव,
नित्य कर्मकलङ्कपङ्कविकलो देव स्वय शाश्वत ॥१२॥

भाव यह है कि वुद्धिमान आत्मा यदि भूत, भविष्य, वर्तमान सर्वका ही बघको एकदम छेद करके और मोहको वलपूर्वक हटाके भीतर अभ्यास करता है तो उसके अतरगमे कर्म कलकसे रहित अविनाशी आत्मानामा देव जिसकी महिमा एक आत्मानुभवसे ही मालूम पडतो है प्रगट विराजमान रहा हुआ मालूम होता है।

तात्पर्य यह है कि शुद्धोपयोग या साम्यभाव आत्मज्ञानसे ही होता है इसलिये आत्मज्ञानका नित्य अभ्यास करना योग्य है ॥८६॥

जीवो ववगदमोहो, उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं ।
जहदि जदि रागदोसे, सो अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥८७॥

जीवो व्यपगतमोह उपलब्धवास्तत्त्वमात्मन. सम्यक् ।
जहाति यति रागद्वेषी स आत्मान लभते शुद्धम् ॥८७॥

अर्थ —इस गाथामे आचार्यने स्पष्ट रूपसे चारित्रकी आवश्यकत्ताको वता दिया है तथा यही भाव स्वामी समन्तभद्राचार्यने अपने रत्नकरण्ड श्रावकाचारके इस श्लोकमे दिखलाया है । (नोट—यह आचार्य श्री कुन्दकुन्दके पीछे हुए हैं) ।

श्लोक —**मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञान ।**
रागद्वेषनिवृत्यै चरण प्रतिपद्यते साधु. ॥४७॥

अर्थ —मिथ्यात्व अंधेरेके चले जानेसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होनेपर तथा साथ ही सम्यग्ज्ञानका लाभ हो जानेपर साधु रागद्वेषोको हटानेके लिये चारित्रको पालते हैं । इस गाथामे श्री कुन्दकुन्द भगवानने दिखा दिया है कि केवल आत्माकी श्रद्धा व आत्माके ज्ञानसे ही मोक्ष नही होगी । जवतक रागद्वेपको त्यागकर शुद्धात्माके वीतराग स्वभावका अनुभव करके चारित्र मोहनीयको नाश न किया जायगा तबतक शुद्ध आत्माका लाभरूप मोक्ष नही हो सक्ता है । मोक्षके चाहनेवाले जीवको पहले तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति करनी चाहिये । इसके लिये श्री अरहत भगवानके द्रव्य गुण पर्यायोको जानकर उसी समान अपने आत्माको निश्चय करके पुन पुन अरहत भक्ति और आत्ममनन करना चाहिये जिससे दर्शन मोहनीय कर्म और उसके सहकारी अनतानु-

बधो कपायका उपशम हो जावे, क्योकि विना इनके दवे किसी भी जीवको सम्यग्दर्शनका लाभ नही होसक्ता है। जव तत्त्व विचारके अभ्याससे सम्यक्त मिल जावे तव सम्यग्चारित्र और सम्यग्ज्ञानकी पूर्णताके लिये प्रमाद त्यागकर पुरुपार्थ करनेकी जरूरत है। क्योंकि ससारके पदार्थ हेय हैं, निज स्वभाव उपादेय है ऐसा जाननेपर भी जवतक ससारके पदार्थोसे रागद्वेप न छोडा जायगा तवतक वीतराग भावका अनुभव न होगा और विना वीतराग भावका ध्यान हुए चारित्र मोहनीय कर्मका नाश नही होगा। जव इस कर्मका नाश होजायगा तव यथाख्यातचारित्र प्राप्त होगा उसीके पीछे अन्य तीन घातिया कर्मोंका नाश होगा और केवलज्ञान केवलदर्शन और अनत वीर्यकी प्राप्ति हो जायगी। इसी उपायमे शुद्ध परमात्मा हो जायगा। यदि स्वरूपके अभ्यासमे प्रमाद करेगा तो सम्भव है कि उपशम सम्यक्तसे गिरकर मिथ्यादृष्टी हो जावे। परन्तु यदि विपय कषायोसे सावधान रहेगा और आत्मरसका स्वाद लेता रहेगा तो उपशमसे क्षयोपशम फिर क्षायिक सम्यग्दृष्टी होकर चारित्र पर आरूढ होकर शुद्ध आत्माका प्रत्यक्ष लाभ कर लेगा। तात्पर्य यह है कि अपने हितमे चतुर पुरुपको सदा जागते रहना चाहिये। जो ज्ञान श्रद्धानके पीछे चारित्रको न पालकर शुद्ध होना चाहते हैं उनके लिये श्री देवसेनाचार्यने तत्वसारमे ऐसा कहा है :—

चलणरहिवो मणुस्सो जह बछइ मेरुसिहरमारुहिउ।
तह झाणेण विहीणो इच्छइ कम्मक्खय साहू ॥१३॥

अर्थ —जैसे कोई मेरु शिखर पर चढना चाहे परन्तु चले नही, वैठा रहे तो वह कभी मेरुके शिखर पर नही पहुँच सक्ता है। इसी तरह जो कोई आत्मध्यान न करे और कर्मोका क्षय चाहे त

वह साधु कभी भी कर्मोका नाशकर मोक्ष नही प्राप्त कर सक्ता है । तात्पर्य यह है कि जबतक सर्वज्ञ वीतराग अवस्थामे न पहुँचे तब-तक निरन्तर आत्मस्वरूपका मननकर शुद्धोपयोगकी भावनामे लीन रहना चाहिये ॥८७॥

सव्वे वि य अरहंता, तेण विधाणेण खविदकम्मंसा ।
किच्चा तधोवदेसं, णिव्वादा ते णमो तेसिं ॥८८॥

सर्वेऽपि चार्हन्तस्तेन विधानेन क्षपितकर्मांशा. ।
कृत्वा तथोपदेश निर्वृत्तास्ते नमस्तेभ्य ॥८८॥

अर्थ —इस गाथामे आचार्यने अपना पक्का निश्चय प्रगट किया है कि कर्मोको नाशकर शुद्ध मुक्त होनेका यही उपाय है कि पहले अरहत परमात्माके द्रव्य, गुण पर्यायको समझकर निश्चय लावे फिर उसी तरहका द्रव्य अपना है ऐसा निश्चयकर अपने शुद्ध स्वरूपको अनुभव करे । इसी स्वानुभवके द्वारा कर्मोका नाश हो जाता है और यह भावनेवाला आत्मा स्वय अरहत परमात्मा हो जाता है । तब केवलज्ञान अवस्थामे उसी मोक्षमार्गका उपदेश करता है जिससे अपने आत्माकी शुद्धी की है । आयुकर्मके शेष होनेपर सर्व शरीरोसे छूटकर सिद्ध परमात्मा होजाता है । इसी ही रूपसे पूर्वकालमे सर्व आत्माओने मुक्तिपद पाया है । आज भी जो मोक्षमार्ग प्रगट है वह श्री महावीर भगवान अरहत परमात्मा का उपदेश किया हुआ है । उसी उपदेशसे आज भी हम मोक्षको पहचान रहे हैं । ऐसा परम उपकार समझकर आचार्यने उन अरहंतोको पुन पुन नमस्कार किया है । तथा भव्य जीवोको इस कथनसे प्रेरणा की है कि वे इसी रत्नत्रयमई मार्गका विश्वास लावें और उस मार्गके प्रकाशक अरहतोके भीतर परम श्रद्धा रखके

उनके द्रव्य गुण पर्यायको विचारकर उनकी भक्ति करें। उन समान अपने आत्म द्रव्यको जानकर अपने शुद्ध स्वरूपकी भावना करें। जो जैसी भावना करता है वह उस रूप हो जाता है। जो अरहंत परमात्माका सच्चा भक्त है और तत्त्वज्ञानी है वह अवश्य शुद्ध आत्माका लाभ कर लेता है। श्री तत्त्वानुशासनमे श्री रामसेन मुनिने कहा भी है —

परिणमते येनात्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति ।
अर्हद्ध्यानाविष्टो भावार्हं स्यात्स्वयं तस्मात् ॥१९०॥
येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित् ।
तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा ॥१९१॥

भाव यह है कि यह आत्मा जिस भावमें परिणमन करता है उसी भावसे वह तन्मयी हो जाता है। श्री अरहंत भगवानके ध्यानमे लगा हुआ स्वयं उस ध्यानके निमित्तमे भावमे अरहंत रूप हो जाता है। आत्मज्ञानी जिस भावके द्वारा जिस स्वरूप अपने आत्माको ध्याता है उसी भावसे वह उसी तरह तन्मयता प्राप्त कर लेता है। जिस तरह स्फटिक पत्थरमे जैसी उपाधि लगती है उसी रूप वह परिणमन कर जाता है।

ऐसा जान अपने ज्ञानोपयोगमे शुद्ध आत्मस्वरूपकी सदा भावना करनी चाहिये—इसी उपायसे शुद्ध आत्मस्वरूपका लाभ होगा ॥८८॥

दंसणसुद्धा पुरिसा, णाणपहाणा समग्गचरियत्था ।
पूज्जासक्काररिहा, दाणस्स य हि ते णमो तेसिं ॥८८॥

दर्शनशुद्धा पुरुषा ज्ञानप्रधाना समग्रचारित्रस्था ।
पूजासत्कारयोरर्हा दानस्य च हि ते नमस्तेभ्य ॥८८॥

अर्थ —आचार्यने इसके पहलेकी गाथामे सच्चे आप्तको नमस्कार करके यहा सच्चे गुरुको नमस्कार किया है। इस गाथामे बता दिया है कि जो साधु निश्चय और व्यवहार रत्नत्रयके धारी हैं उनहीको अष्ट द्रव्यसे भाव सहित पूजना चाहिये, व उनहीकी प्रशसा करनी चाहिये। उनहीका पूर्ण आदर करना चाहिये तथा उनहीको दान देना चाहिये व उनहीको नमस्कार करना चाहिये। प्रयोजन यह है कि उच्च आदर्श ही हमारा हितकारी होसक्ता है। उनहीका भाव व आचरण हम उपासको को उन रूप वर्तन करनेकी योग्यताकी प्राप्तिके लिये प्रेरणा करता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र मोक्षका मार्ग है। निश्चय नयसे शुद्ध आत्माकी रुचि सम्यक्त है। स्वसवेदन ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। तथा शुद्ध आत्मामे तन्मयता सम्यग्चारित्र है। इनहीके साधने वाले व्यवहार रत्नत्रय हैं– पच्चीस दोष रहित तत्वार्थका श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है। सर्वज्ञ वीतरागकी परम्परासे लिखित शास्त्रोका अभ्यास व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। अट्ठाईस मूलगुण और उसके उत्तर गुणोको पालना व्यवहार सम्यग्चारित्र है निश्चय व्यवहार रत्नत्रयके धारी निर्ग्रंथ साधु ही मोक्षमार्गपर आप चलते हुए भक्तजनो को साक्षात् मोक्षका मार्ग दिखानेवाले होते है। जैन गृहस्थोका मुख्य कर्तव्य है कि ऐसे साधुओकी सेवा करे व साधुपद धारनेकी चेष्ठामे उत्साही रहे। यहा भी तात्पर्य यही है कि शुद्धोपयोग व साम्यभाव ही उपादेय है। इसीके कारण ही साधुजन पूज्यनीय होते हैं।

तत्वज्ञानी गुरुसे परम लाभ होता है वे ही पूज्यनीय है ऐसा श्री योगेन्द्रदेवने अमृताशीतिमे कहा है —

दृगवममलक्ष्मं स्वस्य तत्व समन्ता-
द्रतमपि निजदेहे देहिभिर्नोपलक्ष्यम्।

तदपि गुरुवचोभिर्बोध्यते तेन देवो
गुरुरधिगततत्वस्तत्वत पूजनीय ॥६०॥

भाव यह है कि ज्ञानदर्शन लक्षणधारी अपना आत्मतत्त्व सब तरहमे अपनी देहमे प्राप्त है तथापि देहधारी उसको नही पहचानते हैं तो भी वह आत्मतत्त्व गुरुके वचनोके द्वारा जाना जाता है इसलिये तत्त्वज्ञानी गुरुदेव निश्चयमे पूजने योग्य हैं ।

इस तरह आप्त और आत्माके स्वरूपमे मूढता या अज्ञानताको दूर करनेके लिये सात गाथाओ मे दूसरी ज्ञानकठिका पूर्ण की ॥ ८९ ॥

दव्वादिएसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहोत्ति ।
खुब्भदि तेणोच्छण्णो, पप्पा राग व दोसं वा ॥९०॥

द्रव्यादिकेषु मूढो भावो जीवस्य भवति मोह इति ।
क्षुभ्यति तेनावच्छन्न प्राप्य राग वा दोष वा ॥९०॥

अर्थ:— स गाथामे आचार्यने ससारके कारण भावको प्रगट किया है । ससारका कारण कर्मबध है । सो कर्मबध मोहके द्वारा होता है । मोहके मूल दो भेद है । दर्शन मोह और चारित्र मोह । श्रद्धानमे उल्टे व सशयरूप व बेविचाररूप भावको दर्शन मोह कहते हैं । यह जीव आत्मा और अनात्मा द्रव्योमे व उनके गुणोमे व उनकी स्वाभाविक तथा वैभाविक पर्यायोमे जो सशय रूप व अन्यथा व अज्ञानरूप भाव रखता है, यही दर्शन मोह है । इस मोहके कारण वस्तु कुछकी कुछ मालूम होती है । श्री सर्वज्ञ वीतराग अरहतने जैसा जीव और अजीवका स्वरूप बताया है वैसा

श्रद्धानमे न आना दर्शन मोह है । भगवानने सच्चा सुख आत्माका स्वभाव बताया है इसको न विश्वासकर मोहसे मैला प्राणी इंद्रियोके द्वारा भोगे जानेवाले सुखको सच्चा सुख मान बैठता है । इस ही झूठी माननके कारण अपनी रुचिसे जिन इष्ट पदार्थोसे सुख कल्पना करता है उनमे राग और जिनसे दु ख कल्पना करता है, उनमे द्वेष कर लेता है । इस रागद्वेषको चारित्र मोह कहते है । रागद्वेष चार तरहका होता है । एक अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी जो बहुत गाढ होता है व जिसकी वासना अनन्त कालतक चली जासक्ती है व जो मिथ्यात्वको बुलानेवाला व मिथ्यात्वको सहायक है । इस तरहके रागद्वेषमे पडकर ससारी जीव रातदिन विषयोके दास बने रहते हैं, उनका प्रत्येक शारीरका सर्व समय इष्ट पदार्थोके सम्बन्ध मिलानेमे, अनिष्ट पदार्थोके सम्बन्ध हटानेमे व इष्ट पदार्थोके वियोग होनेपर दु ख करनेमे व नाना तरहके परको दु खदाई अशुभ कर्मोके विचार व आचारणमे बीतता है जिससे ऐसे मोही जीव दर्शनमोहके प्रभावसे रात दिन आकुलतासे पूर्ण रहते हुए कभी भी सुख शातिके भावको नही पाते हैं । ससारके मूल कारण यही रागद्वेष मोह है ।

इनहीसे क्षुभित जीव अनादि कालसे ससारमे जन्म मरण करता है तथा जबतक दर्शन मोहको दूर न करे तबतक बराबर चाहे अनन्तकाल होजावे जन्म मरण करता रहेगा ।

दूसरा भेद रागद्वेषका वह है जो इस जीवको विषयोमे श्रद्धा व रुचिकी अपेक्षा मूर्छित नही करता है किन्तु दर्शन मोहके बल विना रुचि न होते हुए भी विषयोकी चाह पैदा करता है जिससे यह जानते हुए भी कि विषयोमे सुख नही है ऐसी निर्बलता भावोमे रहती है कि इष्ट पदार्थोमे राग व अनिष्ट पदार्थोमे द्वेष

कर लेता है। इसकी वासना छः माससे अधिक नही रहती है, दर्शन मोह रहित सम्यग्दृष्टी जीवमे धर्ममे आस्तिक्य, जावोपर करुणा, कषायोकी मदतासे प्रशमभाव, तथा ससारसे वैराग्यरूप सवेग भाव वर्तन करता है जिससे यह जीव यथासभव अन्यायोसे वचनेका व परको पीडितकर अपने स्वार्थ साधनका वचाव रखनेका उद्यम करता है। ऐसे जीवको अविरत सम्यग्दृष्टी कहते हैं। तथा इस रागद्वेपको अप्रत्यख्यानावरणीय रागद्वेष कहते हैं। इस भेदके कारण यह जीव श्रावकके व्रतोके नियमो को नही धारण कर सक्ता है। तासरा भेद रागद्वेपका वह है कि जिसके कारण ससारसे छुटनेका भाव कार्यमे परिणति होने लगता है और यह सम्यग्दृष्टी जाव वडे उत्साहसे श्रावकके व्रतोको धारता हुआ त्याग करता चला जाता है। विपयोके भोगमे अति उदासान होता हुआ क्रमसे घटाता हुआ व परिग्रहको भी कम करता हुआ पहली दर्शन प्रतिमासे वढता हुआ ग्यारहवी उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा तक वढ जाता है जहाँपर परिग्रहमे मात्र एक लगोटी होती है और आचरण मुनि मार्गको तरफ झुकता हुआ है। इस भेदको प्रत्याख्यानावरणीय रागद्वेष कहते हैं। इसकी वासना पद्रह दिनसे अधिक नही रहती है इसके वलमे मुनिव्रत नहा होते हैं। जव यह नही रहता है तव मुनिव्रत होता है। चौथा भेद रागद्वेषका वह है जो सयमको घात नही करता है किन्तु वीतराग चारित्रके होनेमे मलीनता करता है। जव यह हट जाता है तव साधु वीतरागी तथा आत्माके आनन्दमे लीन हो जाता है। इस भेदको सज्वलन रागद्वेष कहते है। इसकी वासना अतर्मुहूर्त मात्र है। जहाँ पहला भेद है वहाँ अन्य तीनो भी साथ साथ हैं। पहला भेद मिटनेपर तीन, दो मिटनेपर शेष दो, तीनो भेद मिटनेपर चौथा ही भेद रहता है। चारो ही प्रकारके रागद्वेषोके दूर हुए बिना यह आत्मा

पूर्ण अक्षुभित व निराकुल नही होता है। तथापि जो २ भेद मिटता जाता है उतनो उतनी निराकुलता होती जाती है। इस रागद्वेपमे चार कपाय और नौ नोकपाय गर्भित है।

लोभ, माया कपाय और हास्य, रति, स्त्रीवेद, पुरुपवेद और नपुंसकवेद ये पाच नोकपाय ऐसे ७ चारित्रमोहके भेदोको राग तथा क्रोध, मान, कषाय और अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ये चार नोकषाय ऐसे ६ चारित्र मोहके भेदोको द्वेप कहते है। इन्ही राग-द्वेषके चार भेद समझनेसे तेरह प्रकारके भेद अनन्तानुवन्धी, आदि चार भेदरूप फैलनेसे ५२ वावन प्रकारके भाव होसक्ते है। यद्यपि सिद्धातमे कषायरूप चारित्र माहनीयके २५ पचीम भेद कहे है तथापि चार कषायके सोलह भेद जैसे सिद्धातमे कहे है, उनका लेकर और नौ नोकषाय भी इन १६ कपायोकी सहायता पाकर काम करते हैं इसलिये इनके भी छतीस भेद होजाते है। इस तरह वावन भेद जानने चाहिये। दर्शनमोहके भी तीन भेद हैं—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व या मिश्र और सम्यग्प्रकृति मिथ्यात्व। जो सर्वथा श्रद्धान विगाडे वह मित्थ्यात्व है, जो सच्चे झूठे शृद्धान को मिश्र रूप रक्खे वह मिश्र है। जो सच्चे शृद्धानमे मल या अतीचार लगावे वस सम्यक्त प्रकृति है। इस तरह मोहके सव पचपन भेद होसक्ते है।

इस मोहको आत्माका विरोधी, सुख शातिका नाशक समताका घातक व संसारचक्रमे भ्रमण करनेवाला जानकर मुमुक्षु जीवको उचित है कि वह निज आत्माके अपने ही शुद्धोपयोग रूप साम्यभावको उपादेय मान उसीके लिये पुरुषार्थ करे। ससारमे दुःखी करनेवाला एक मोह है जैसा श्री योगीन्द्रदेवने अमृताशीतिमे कहा है :—

अज्ञाननामतिमिरप्रसरोयमन्त

सन्दर्शिताखिलपदार्थविपर्ययात्मा-

मंत्री स मोहनृपते स्फुरतीह याव-

त्तावत्कुतस्तव शिवं तदुपायता वा ॥१४॥

अर्थ :—यह है कि मोह राजाका मन्त्री जो अज्ञान नामके अन्धकारका फैलाव जिसने अंतरंगमें सम्पूर्ण पदार्थोंका उल्टा स्वरूप मालूम पड़ता है, जब तक अंतरंगमे प्रगट रहता है तब तक हे आत्मान् ! कहाँ तेरे मोक्ष है और कहाँ तेरे इस मोक्षका उपाय है। श्री कुलभद्र आचार्यने श्रो सारसमुच्चयमे भी इस भांति कहा है —

कषायकलुषो जीवो रागरंजितमानसः।
चतुर्गतिभवाम्बोधौ भिन्ना नारिच सीदति ॥३१॥

कषायवशगो जीवो कर्म बध्नाति दारुणम्।
तेनासौ क्लेशमाप्नोति भवकोटिषु दारुणम् ॥३२॥

कषायविषयैश्चित्तं मिथ्यात्वेन च संयुतम्।
संसारबीजतां याति विमुक्तं मोक्षबीजताम् ॥३३॥

भाव यह है कि जो जीव कषायोमे मैला है व जिसका मन रागमे रंगीला है वह टूटी हुई नौकाके समान चार गतिरूप संसार समुद्रमे कष्ट उठाता है। कषायके आधीन जीव भयानक कर्मोंको बांधता है। जिससे यह करोडो जन्मोंमे भयानक दुःखको पाता है। जो चित्त मिथ्यात्व सहित है व कषाय विषयो मे पूर्ण है वह संसारके बीजपनेको और जो चित्त इन मिथ्यात्व व विषय कषायो-

से रहित है वह मोक्षके बीजपनेको प्राप्त होता है। ऐसा जान मोहमे उदास हो निर्मोह शुद्ध आत्मा ही के सन्मुख होना चाहिये ॥९०॥

मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स ।
जायदि विविहो बंधो तम्हा ते संखवइदव्वा ॥९१॥

मोहेन वा रागेण वा द्वेषेण वा परिणतस्य जीवस्य ।
जायते विविधो बन्धस्तस्मात्ते सक्षपयितव्या ॥९२॥

अर्थ —यहां आचार्यने यह प्रेरणा की है कि आत्माके हित चाहनेवाले पुरुषोका कर्तव्य है कि वे आत्माको उन कर्मोके बंधनोमे छुडावें जिनके कारण यह आत्मा चार गतियोमे भ्रमण करते हुए अनेक दुःखोको भोगता है और निराकुल होकर अपनी सुख शातिका लाभ सदाके लिये नही कर सक्ता है। क्योकि नाना प्रकार के कर्मोका बंधन इस अशुद्ध आत्माके उसके अशुद्ध भावोसे होता है जिन भावोको मोह, राग व द्वेष कहते हैं, इस लिये इन भावोके कारण जो पूर्वबद्ध दर्शन मोहनीय व चारित्र मोहनीय कर्म्म हैं उनको जड मूलसे आत्माके प्रदेशोसे दूर करके निकाल देना चाहिये जब कारण नही रहेगा तब उसका कार्य्य नही रहेगा। यहां इतना समझ लेना चाहिये कि आठो ही प्रकारके कर्मोके बंधनके कारण ये रागद्वेष मोह हैं। जिन जीवोने उनका क्षय कर दिया है ऐसे क्षीण मोही साधुके कर्मोका बंध नही होता है, केवल योगोके कारण ईर्य्यापथ आश्रव होता है जो चिकनई रहित शरीरपर धूल पडनेके समान है, चिपटता नही है। इनके क्षय करनेका उपाय सूक्ष्मताले जाननेके लिये श्री क्षपणासार

ग्रन्थका मनन करना चाहिये । यहाँ इतना मात्र कहा जाता है कि पहले दर्शन मोहको और उसके सहकारी अनन्तानुवन्धी सम्वन्धी रागद्वेषको नाशकर क्षायिक सम्यग्दर्शनका लाभ करना चाहिये फिर श्रावक तथा साधुके आचरणको पालकर तथा शुद्धोपयोग की भावना व उसका ध्यान करके सर्व रागद्वेष सम्वन्धी कर्म प्रकृतियो को क्षय कर देना चाहिये । इन रागद्वेष मोह के क्षय करने का उपाय आत्मा का ज्ञान और वीर्य्य है । इसलिये मन-सहित विचारवान जीवका कर्तव्य है कि वह जिनवाणीका अभ्यास करके आत्मा और अनात्माके भेदको समझले । आत्माके द्रव्यगुण पर्याय आत्मामे और अनात्माके द्रव्य गुण पर्याय अनात्मामे जाने । यद्यपि अपना आत्मा कर्म पुग्दलरूप अनात्माके साथ दूध पानी की तरह मिला हुआ है तथापि हस जैसे दूव पानी को अलग २ करने की शक्ति रखता है वैसे तत्वज्ञानी को इन आत्मा और अनात्मा के लक्षणोको अलग-अलग जानकर इनको अलग-अलग करने की शक्ति अपने मे पैदा करनी चाहिये । इस ज्ञान को भेद विज्ञान कहते हैं । इस भेद विज्ञान के वल से अपना आत्मवीर्य्य लगाकर भाव को मोह के प्रपच जालो से हटाकर शुद्ध आत्मा के स्वरूप के मनन मे लगा देना चाहिये । ज्यो २ आत्मा की तरफ झुकेगा मोहनीय कर्म शिथिल पडेगा । वारवार अभ्यास करते रहनेमे एक समय यकायक सम्यग्दर्शन के वाधक कर्मोका उपशम हो जायगा । फिर भी इसी शुद्ध आत्मा के मनन के अभ्यास को जारी रखने से सम्यक्तके वाधक कर्मोका जडमूलसे क्षय हो जायगा तव अविनाशी क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जायगा । फिर भी उसी शुद्ध आत्मा का मनन ध्यान या अनुभव करते रहना चाहिये । इसी के प्रताप मे गुणस्थानोके क्रमसे चढता हुआ एक दिन क्षपक श्रेणी के मार्गपर आरूढ होकर सर्व मोहनीय कर्मका क्षय कर वीतरागी

निर्ग्रंथ साधु हो जायगा । तात्पर्य यह है इन राग द्वेष मोहो के नाशका उपाय निज आत्माका यथार्थ श्रद्धान ज्ञान तथा अनुभव-रूप चारित्र है । निश्चय रत्नत्रय रूप आत्मा ही आपकी मुक्तिका कारण है, इसलिये मोक्षार्थी पुरुष का कर्तव्य है कि वह आत्म पुरुपार्थ करके इस ससार के कारणीभूत राग द्वेष मोहका नाश करे। जिससे यह आत्मा ससार के दु खो से छूटकर निराकुल अतीन्द्रिय आनन्द का भोगने वाला सदा के लिये हो जावे ।

श्री अमितिगति आचार्य ने अपने वृहत् सामायिक पाठ मे कहा है —

अभ्यास्ताक्षकषायवरिविजया विध्वस्तलोकक्रिया ।
बाह्याभ्यतरसगमांशविमुखाः कृत्वात्मवश्यं मन ।।
ये श्रेष्ठ भवभोगदेहाविषय वैराग्यमध्यासते ।
ते गच्छाते शिवालय विकलिला लब्ध्वा समाधि बुधा ।।३८।।

भाव यह है कि जिन्होने इद्रिय विषय और कषाय रूपी वैरियो का विजय कर लिया है, लौकिक क्रियाओ को रोक दिया है, तथा अपने मनको अपने आधीन करके बाहरी भीतरी परिग्रह के लेश मात्र से भी अपने को विमुख कर लिया है और जो ससार शरीर भोग सम्बन्धी श्रेष्ठ वैराग्य को धरनेवाले है वे ही बुद्धिमान समाधिभावको पाकर तथा शरीर रहित होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं।

श्री गुणभद्राचार्यने अपने ग्रन्थ आत्मानुशासन मे कहा है—

यमनियमनितान्त शान्तबाह्यान्तरात्मा ।
परिणमितसमाधि सर्वसत्वानुकम्पी ।।
विहित हितमिताशी क्लेशजालं समूल ।
दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसार ।।२२५।।

अर्थ :—जो साधु यम नियममे लीन है, अतरग वहिरग शात हैं, आत्म समाधिमे वर्तनेवाले हैं, सर्व जीवोपर दयालु है, हितकारी मर्यादा रूप आहार करनेवाले है, निद्राके जीतनेवाले है तथा शुद्ध आत्माके स्वरूपको निश्चय किये हुए हैं वे ही सर्व दु खोके समूहको जडमूलसे जला देते हैं।

तात्पर्य यह है कि जिस तरह वने अपने आत्माकी भावना करके राग द्वेष मोहका क्षय कर देना चाहिये ॥६१॥

अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य तिरियमणुएसु ।
विसयेषु अप्पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि ॥६२॥

अर्थे अयथाग्रहण करुणाभावश्च तिर्यङ्मनुजेषु
विषयेषु च प्रसगो मोहस्यैतानि लिंगानि ॥ ६२ ॥

अर्थ :—इस गाथामे आचार्यने राग द्वेष मोहके चिन्ह वताये है जगतमे चेतन अचेतन पदार्थ हैं उनका स्वभाव क्या है तथा उनमे एक दूसरेके निमित्तसे क्या अवस्थाए होती है, यदि निमित्त उनके विभावरूप परिणमनका न हो और वे स्वभावरूप परिणमन करें तो वे कैसे परिणमन करते हैं। इत्यादि जगतके पदार्थोका जैसा कुछ स्वरूप है उसको वैसा न श्रद्धान कर औरका और श्रद्धान करना यह दर्शन मोह अर्थात् मिथ्यात्त्वका वडा प्रवल चिन्ह है। यह मिथ्यादृष्टि जीव परमात्मा ससारी आत्मा, पुण्य पाप आदिका स्वरूप ठीक २ नही जानता है। कुछका कुछ कहता है यही मिथ्यात्त्वका चिन्ह है। दूसरा चिन्ह यह है कि वह अपने स्वार्थवश जिन मनुष्योमे व पशुओसे अपना प्रयोजन निकलता हुआ जानता है उनमें अतिशय राग या ममत्त्व या दयाभाव करता है तथा दूसरा भाव यह है कि उसके भीतर तिर्यञ्च और मनुष्यो-पर दयाभाव नही होता है। वह अपने मतलवके लिये उनको वहुत

कष्ट देता है। अन्यायमे वर्तनकर हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रहकी तृष्णाकर मनुष्य और पशुओको बहुत सताता है, अपने खानपान व्यवहारमे दयाभावसे वर्तन नही करता है। दूसरे प्राणी सर्वथा नष्ट होजावे तौ भी अपने विषय कषाय पुष्ट करता है।

राग द्वेषके चिन्ह यह है कि इंद्रियोके मनोज्ञ पदार्थोमे अतिशय प्रीति करना तथा जो पदार्थ अपनेको नही रुचते है उनमे द्वेष करना। जहा थोडा भी पर पदार्थ पर राग या द्वेप है वहा चारित्र मोहनीयका चिन्ह प्रगट होता है। राग या द्वेपके वशीभूत हो अपने प्रति भावनोपर यह प्राणी तरह २ का उपहार करता है और जिनपर द्वेप रखता है उनका हर तरह बिगाड करता है। जहा उपकारी पर प्रेम व अपकारी पर अप्रेम है वहा राग द्वेप है। जहा उपकारी पर राग व अपकारी पर द्वेप नही वही वीतरागभाव है। इन चिन्होको बतानेका प्रयोजन यही है कि जो जीव सुख शाति प्राप्त करना चाहते है उनको उचित है कि वे इन तीनो को छोडनेका उपाय करे और वह उपाय एक साम्यभाव या शुद्धोपयोगका अभ्यास है। इसलिये अपने शुद्ध आत्माकी भावनाका अभ्यास करके इस समताभावके लाभसे राग द्वेप मोहको क्षय करना चाहिये।

श्री योगीन्द्रदेवने अमृताशीतिमे मोक्ष लाभके लिये नीचे प्रमाण बहुत अच्छा उपदेश दिया है—

> बहिरवहिरसारे दु खभारे शरीरे।
> क्षयिणि बत रमन्ते मोहिनोऽस्मिन् वराका ॥
> इति यदि तव बुद्धिर्निर्विकल्पस्वरूपे।
> भव भवसि भवान्तस्थायि धामाधिपस्त्वम् ॥६५॥

अर्थ —अत्यन्त आत्मासे भिन्न इस असार नाशवत, तथा दु खोके बोझसे भारी शरीरमे जो विचारे मोही जीव है वे ही

रमण करते हैं यह वडे खेदकी वात है। हे भाई, यदि तेरी बुद्धि आत्माके विकल्प रहित शुद्ध स्वभावमे ठहर जावे तौ तू ससारके अन्तको पाकर अविनाशी मोक्ष धामका स्वामी हो जावे।

तात्पर्य्य यह है कि मोहके नाशके लिये निज आत्माका मनन ही कार्यकारी है।

और भी वही कहा है —

इदमिदमतिरम्यं नेदमित्यादिभेदा–
द्विदधति पदमेते रागरोषादयस्ते ॥
तदलममलमेक निष्कल निष्क्रियस्सन् ।
भज भजसि समाधेः सत्फलं येन नित्यम् ॥ ६६ ॥

भाव यह है कि यह चीज अति रमणीक है, यह चीज रमणीक नही है इत्यादि भेद करके ये राग द्वेषादि अपना पद स्थापन करते है इससे कुछ कार्यकी सिद्धि नही होती इसलिये सर्व क्रियाकाडोंसे निवृत्त होकर शरीर रहित तथा निर्मल एक आत्माको भजन करो, इसीसे तू समाधिका अविनाशी सच्चा फल भोगेगा। यहा इतना और जानना चाहिये कि गाथामे जो करुणा-भाव शब्द है व जिसका दूसरा अर्थ वृत्तिकारने दयाका अभाव किया है, हमारी सम्मतिमे मूलकर्त्ताका यही भाव ठीक मालूम होता है कि जो मिथ्यादृष्टी होता है उसका लक्षण अनुकम्पाका अभाव है। क्योकि सम्यग्दृष्टीके चार चिन्ह शास्त्रमे कहे है अर्थात् प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य। ये ही चार लक्षण मिथ्यादृष्टिमे नही होते इसीका सकेत आचार्यने गाथामे किया है ऐसा झलकता है। और यह वात वहुत ही ठीक मालूम पडती है, क्योकि मिथ्यादृष्टीके चित्तमे आत्माका श्रद्धान न होनेसे केवल अपने स्वार्थका ही ध्यान होता है। इसलिये उसके चित्तमे न दयाभाव सच्चा होता है, न दयारूप वर्तन होता है।

वास्तवमे सम्यक्तभाव ही कार्यकारी है यही सर्व गुणोका वीज है ॥ ६३ ॥

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं वुज्झदो णियमा ।
खीयदि मोहोवचयो, तम्हा सत्थं समधिदेव्वं ॥६३॥

जिनशास्त्रादर्थान् प्रत्यक्षादिभिर्वुध्यमानस्य नियमात् ।
क्षीयते मोहोपचय तस्मात् शास्त्र समध्येतव्यम् ॥ ६३ ॥

अर्थ —यहा आचार्यने अनादि मोहके क्षयका परम्परा अत्यन्त आवश्यक उपाय जिनवाणीका अभ्यास वताया है। जीवादि पदार्थोका यथार्थ ज्ञान हुए विना उनका श्रृद्धान नही हो सक्ता, श्रद्धान विना मनन नही होसक्ता, मनन विना दृढ सस्कार नही हो सक्ता, दृढ सस्कारके विना स्वात्माका अनुभव नही हो सक्ता, स्वात्माके अनुभव विना सम्यक्त नही हो सक्ता । सम्यक्त और स्वात्मानुभव होनेका एक ही काल है । जव यह शक्ति प्रगट हो जाती है तव ही दर्शनमोहनीय उपशम होती है ।

सर्वज्ञ वीतराग पूर्ण ज्ञानी और पूर्ण वीतरागी होनेके कारण अरहत अर्थात् जीवन्मुक्त अवस्थामे शरीर सहित होनेके कारण ही उपदेश दे सक्ते हैं । उनका उपदेश यथार्थ पदार्थोका प्रगट करनेवाला होता है, उस ही उपदेशको गणवर आदि महावुद्धिशाली आचार्य धारणामे रखते है और उनके द्वारा अन्य ऋषिगण जानते हैं । उनहीकी परम्परासे चला आया हुआ उपदेश है जो श्री कुन्दकुन्द, उमास्वामी, पूज्यपाद आदि आचार्योके रचित ग्रन्थोमे मौजूद है । इसलिये जिनवाणीमे प्रसिद्ध चारो ही अनुयागोका कथन हर एक मुमुक्षुको जानना चहिये । जितना अधिक शास्त्रज्ञान होगा उतना अविक स्पष्ट ज्ञान होगा । जितना स्पष्ट ज्ञान होगा उतना ही निर्मल मनन होगा । प्रथमानुयोगमे पूज्य पुरुषोके जीवनचरित्र

उदाहरण रूपसे कर्मोके प्रपचको व ससार या मोक्षमार्गको दिखलाते हैं। करणानुयोगमे जीवोके भावोके वर्तनकी अवस्थाओको व कर्मोकी रचनाको व लोकके स्वरूपको इत्यादि तारतम्य कथनको किया गया है चरणानुयोगमे मुनि तथा श्रावकके चारित्रके भेदोको बताकर व्यवहारचारित्रपर आरूढ किया गया है द्रव्यानुयोगमे छ द्रव्योक स्वरूप बताकर आत्मा द्रव्यके मनन, भजन व ध्यानका उपाय बताकर निश्चय रत्नत्रयके पथको दर्शाया गया है। इन चारो ही प्रकारके सैकडो व हजारो ग्रन्थ जिनवाणीमे हैं—इनका अभ्यास सदा ही उपयोगी है। सम्यक्त होनेके पीछे सम्यग्चारित्रकी पूर्णता व सम्यग्ज्ञानकी पूर्णताके लिये भी जिनवाणीका अभ्यास कार्यकारी है। इन पचमकालमे इसका आलम्बन हरएक मुमुक्षुके लिये बहुत आवश्यक है क्योकि यथार्थ उपदेष्टाओका सम्बन्ध बहुत दुर्लभ है। जिनवाणीके पढते रहनेसे एक मूढ मनुष्य भी ज्ञानी हो जाता है। आत्महितके लिये यह अभ्यास परम उपयोगी है। स्वाध्यायके द्वारा आत्मामे ज्ञान प्रगट होता है, कपायभाव घटता है, ससारमे ममत्व हटता है, मोक्ष भावमे प्रेम जगता है। इसीसे निरतर अभ्यासमे मिथ्यात्वकर्म और अनतानुबन्धी कषायका उपशम हो जाता है और सम्यग्दर्शन पैदा हो जाता है श्री अमृतचद्र आचार्यने श्री समयसार कलशमे कहा है —

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्याद् पदाङ्के -
जिनवचसि रमन्ते ये स्वय वान्तमोहा ।
सपदि समयसार ते परमज्योतिरुच्चै -
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥

अर्थ —निश्चयनय और व्यवहारनयके विरोधको मेटनेवाली स्याद्वदसे लक्षित जिनवाणीमे जो रमते है वे स्वय मोहको वमनकर

शीघ्र ही परमज्ञानज्योतिमद शुद्धात्माको जो नया नही है और न किसी नयकी पक्षसे खडक किया जा सक्ता है देखते ही हैं ।

यह स्वाध्याय श्रावक धर्म और मुनि धर्मके पालनमे भी उपकारी है । मनको अपने आधीन रखनेमे सहाई है ।

श्री गुणभद्राचार्य अपने आत्मानुशासनमे इस भाति करते हैं –

अनेकान्तात्मार्थप्रसवफलभारातिविनते ।
वचः प्रर्णाकीर्णे विपुलनयशाषाशतयुते ॥
समुत्तंगे सम्यक् प्रनतमति मूले प्रतिदिनं ।
श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनो मर्कटममुम् ॥१७०॥

अर्थ —वुद्धिमान पुरुष अपने मनरूपी वन्दरको प्रतिदिन शास्त्ररूपी वृक्षके स्कधमे रमावै, जिस वृक्षकी जड सम्यक् व गाढ वुद्धि है, जो नाना नयरूपी सैकडो शाखाओसे ऊचा है, जिसमे वाक्यरूपी पत्ते हैं व जो अनेक धर्मरूप पदार्थोके वडे २ फलोके भारसे नम्र है ।

ऐसा जानकर जव आत्मामे शुद्धोपयोगकी भावना यो ही न होसके तव शास्त्रोके स्वाध्यायके द्वारा भावको निर्मल करते रहना चाहिये । यह शास्त्रका अभ्यास मोक्ष मार्गकी प्राप्तिके लिये एक प्रवल सहकारी कारण है ॥९३॥

दव्वाणि गुणा तेंसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया ।
तेसु गुणपज्जयाणं अप्पा दव्वत्ति उवदेसो ॥ ९४ ॥

द्रव्याणि गुणास्तेषा पर्याया अर्थसज्ञया भणिता. ।
तेष गुणपर्यायाणामात्मा द्रव्यमित्युपदेश ॥ ९४ ॥

अर्थ :- इस गाथामे आचार्यने जिनवाणीके द्वारा जिन पदार्थोको जानना है उनकी व्यवस्थाका कुछ सार वताया है, अर्थ

शब्दको द्रव्य, गुण, पर्याय तीनोमे घटाया है। इयर्ति इति अर्थ अर्थात् गुण पर्यायोको आश्रय करे व परिणामन करे वह अर्थ अर्थात् द्रव्य है। इसी तरह इयरति इति अर्था जो द्रव्यको आश्रय करते है ऐसे गुण तथा द्रव्यके आधारमे परिणामन करनेवाली पर्यायें अर्थ है। द्रव्य गुण पर्यायोका सर्वस्व है या समुदाय है। यह उपदेश श्री सर्वज्ञ भगवानका है। जैसे मिट्टी अपने चिकनेपने आदि गुणको व घडे सकोरे प्याले आदि पर्यायको आश्रय करती है इससे मिट्टी अर्थ है, वैसे चिकनापना आदि गुण मिट्टीको आश्रय करते हैं इससे चिकनापना आदि गुण अर्थ है। इसी तरह घडा, सकोरा, मटकैना आदि पर्यायें मिट्टीको आश्रय करती हैं इसलिये ये घडे आदि अर्थ है। मिट्टी अपने चिकनेपने आदि गुण व घडा आदि पर्यायोका आधार है या सर्वस्व है इस लिये मिट्टी द्रव्य है। मिट्टीमे जितने सहभावी हैं वे गुण है और इन गुणोंमे जो समय समय सूक्ष्म या स्थूल परिणामन होता है वे पर्याय हैं। जितनी पर्यायें मिट्टीके गुणोंमे होनी संभव है अर्थात् जितनी पर्याये मिट्टी गुप्त है वे ही क्रमसे कभी कोई कभी कोई प्रगट होती रहती हैं। एक समयमे एक पर्याय रहेगी इसलिये पर्याये क्रमवर्ती होती हैं। श्री उमास्वामी महाराजने भी तत्पार्थ सूत्रमे कहा है "गुणपर्यय-वद्द्रव्यम्" ॥ ५/३८ अर्थात् गुण पर्यायोको आश्रय रखनेवाला द्रव्य है। आत्मा और अनात्मारूप छहो द्रव्योंमे अर्थपना और द्रव्यपना इसी तरह सिद्ध है। आत्माके ज्ञान सुख वीर्य चारित्र सम्यक्तादि विशेष गुण, अस्तित्त्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्त्व आदि सामान्य गुण सदा साथ रहनेवाले गुण है। और मोक्षापेक्षा सिद्धपना आदि पर्याय हैं। सिद्ध भगवानका आत्मा अपने इन शुद्ध गुण पर्यायोका आत्मा है, सर्वस्व है, आधार है इसलिये शुद्धात्मा द्रव्य है। इस कथनसे आचार्यने यह भी सिद्ध करदिया है कि द्रव्यमे न तो गुण बढते है,

न अपनी सख्यासे घटते है, उनमे प्रगटपना अप्रगटपना नाना निमित्तोसे हुआ करता है इसीसे समय समय गुणोकी स्वाभाविक या वैभाविक अवस्था विशेप जाननेमे आती है इसीको पर्याय कहते है। इसलिये वह चेतन द्रव्य जिसमे जडपना नही है कभी भी पलटते पलटते जड अचेतन नही हो सक्ता और न अचेतन जड द्रव्य पलटते पलटते कभी चेतन बन सक्ते है। चेतनकी पर्यायें चेतनरूप, अचेतनकी अचेतन रूप ही हुआ करेगी। इसलिये अपनेमे जो जड चेतन दोनो एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध रखते हुए दूध पानीकी तरह मिल रहे है उन दोनोको हसकी तरह अलग अलग जानो। चेतनके स्वाभाविक गुण पर्याय चेतनमे, जडके स्वाभाविक गुणपर्यायें अचेतनमे। इस ही ज्ञानको सच्चा पदार्थज्ञान कहते हैं। तथा यही ज्ञान विवेकरूप कहा जाता है। इसी विवेकसे निज आत्मा पृथक् झलकता है, इसी झलकनको स्वानुभव व स्वात्मध्यान कहते हैं तथा यही आनद और वीतरागताको देता है, यही निश्चय रत्नत्रयरूप मोक्ष मार्ग है, यही वध नाशक है यही स्वतत्रताका वीज है। इस पदार्थ ज्ञानकी महिमाको श्री अमृतचंद्र आचार्यने समयसार कलशमे कहा है—

ज्ञानादेव ज्वलनपयसो रौष्ण्य शैत्यव्यवस्था।
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदास.॥
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातो ।
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम्॥३/१५॥

भाव यह है कि पदार्थके यथार्थ ज्ञानसे ही गर्म पानीके भीतर गर्मी अग्निकी है, पानी शीतल होता है, यह बुद्धि होती है। एक नमकीन व्यजनमे निमकपना लवणका तथा तरकारीका स्वाद अलग है यह ज्ञानपना प्रगट होता है इसी तरह आत्मा और अनात्माके विवेक ज्ञानसे ही अविनाशी चैतन्य प्रभु आत्मा भिन्न है

तथा क्रोधादि विकारकी कलुपताको रखनेवाला सूक्ष्म कार्मण पुग्दल स्कध अलग है यह तत्वज्ञान होता है, तव यह अज्ञान मिट जाता है कि मैं चेतन क्रोधादिका कर्ता हू व क्रोधादि मेरे ही स्वाभाविक कार्य हैं। ऐसा भेदज्ञान होनेसे ही निज आत्मा अपने शुद्ध स्वभावमे प्रतीतिगोचर होते हुए अनुभवगोचर होता है। प्रयोजन यह है कि जिनवाणी द्वारा पदार्थोके यथार्थ ज्ञानको प्राप्त करके द्रव्योके गुण पर्यायोको पहचानना चाहिये तथा गुण गुणी अलग रहते हैं यह मिथ्या वुद्धि छोड देनी चाहिये, तव ही आत्माका हित होगा व निशक ज्ञान होकर समताभावका उदय होगा।

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलद्ध जोण्हमुवदेसं।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥६५॥

यो मोहरागद्वेषन्निहन्ति उपलभ्य जैनमुपदेशम्।
स सर्वदु खमोक्ष प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ॥ ६५ ॥

अर्थ —आचार्यने इस गाथामे चारित्र पालनेकी प्रेरणा की है। तथा वृत्तिकारके भावानुसार यह वात समझनी चाहिये कि मनुष्य जन्मका पाना ही अति कठिन है। निगोद एकेन्द्रीसे उन्नति करते हुए पचेन्द्रिय शरीरमे आना वडा दुर्लभ है। मनुष्य होकर भी जिनेन्द्र भगवानका सार उपदेश मिलना दुर्लभ है। यदि कोई शास्त्रोका मनन करेगा और गुरुसे समझेगा तथा अनुभवमे लायेगा तो उसे जिन भगवानका उपदेश समझ पडेगा। भगवानका उपदेश आत्माके शत्रुओके नाशके लिये निश्चय रत्नत्रयरूप स्वात्मानुभव है। इसीके द्वारा रागद्वेष मोहका नाश हो सक्ता है। सिवाय इस खडगके और किसीमे वल नही है जो इन अनादिसे लगे हुए आत्माके वैरियोका नाश किया जावे। जो कोई इस उपदेशको समझ भी लेवे परन्तु पुरुषार्थ करके स्वात्मानुभव न करे तौ वह

कभी भी दुःखोंसे छूटकर मुक्त नहीं होसक्ता । जैसा आचार्यने कहा है, वैसा ही श्री समयसागरजीमे आपने इन रागद्वेष मोहके नाशका उपाय इस गाथासे सूचित किया है—

जो आदभावणमिणं निच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥१२॥

अर्थ — जो कोई मुनि नित्य उद्यमवत होकर निज आत्माकी भावनाको आचरण करता है वह शीघ्र ही सर्व दुःखोंसे छूट जाता है ।

श्री योगेन्द्रदेवने श्री अमृताशीतिमे इसी बातकी प्रेरणा की है—

सत्साम्यभावगिरिगहरमध्यमेत्य ।
पद्मासनादिकमदोषमिदं च बद्ध्वा ॥
आत्मानमात्मनि सखे ! परमात्मरूपं ।
त्व ध्याय वेत्सि ननु यन सुखं समाधेः ॥ २८ ॥

अर्थ :—सच्चे समताभाव रूपी पहाड़की गुफाके मध्यमें जाकर और दोष रहित पद्मासन आदि कोई भी आसन बाधकर हे मित्र ! तू अपने आत्मामें अपने परमात्मा रूपका ध्यान कर, जिससे अवश्य तू समाधिके आनंदको भोगेगा ।

आचार्य कुलभद्रजीने सारसमुच्चयमे कहा है—

आत्मानं स्नापयेन्नित्यं ज्ञाननीरेण चारुणा ।
येन निर्मलता याति जीवो जन्मान्तरेष्वपि ॥ ३१४ ॥

अर्थ :—यह है कि नित्य ही सुन्दर आत्मज्ञानरूपी जलसे आत्माको स्नान कराना चाहिये, जिससे यह जीव जन्म जन्ममें भी निर्मलताको प्राप्त हो जावे । वास्तवमें यह जीव उपयोगको थिरकर भेदज्ञान द्वारा परको अलगकर निजको ग्रहण करता है

तब ही वीतराग चारित्रके द्वारा मोहकर्मका नाश करता है। इस तरह द्रव्य, गुण, पर्यायके सम्बन्धमे मूढताको दूर करनेके लिये छ गाथाओंसे तीसरी ज्ञानकठिका पूर्ण हुई ॥ ९५ ॥

णाणप्पगमप्पाणं, परं च दव्वत्तणाहि संबद्धं ।
जाणदि जदि णिच्छयदो, जो सो मोहक्खयं कुणदि ॥९६

ज्ञानात्मकमात्मान पर च द्रव्यत्त्वेनाभिसबद्धम् ।
जानाति यदि निश्चयतो य स मोहक्षय करोति ॥ ९६ ॥

अर्थ:—यहा आचार्यने भेद विज्ञानका प्रकार बताया है। पहले तो अनादिसे सम्बधित पुग्दल और आत्माको अलग अलग द्रव्य पहचानना चाहिये। आत्माका चेतन द्रव्यपना आत्मामे तथा पुग्दलका अचेतन द्रव्यपना पुग्दलमे जानना चाहिये फिर अपने स्वाभाविक आत्म पदार्थसे सर्व अन्य आत्माओंको तथा अन्य पाच द्रव्योंको भी भिन्न २ जानना चाहिये इस तरह जब निश्चयनयके द्वारा द्रव्यदृष्टिसे जगतको देखनेका अभ्यास डाले तब इस देखनेवालेकी पर्यायदृष्टि गौण हो जाती है और द्रव्यदृष्टि मुख्य हो जाती है। तब द्रव्यदृष्टिमे पुग्दल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव सब अपने २ स्वभावमे दिखते हैं। अनंत आत्माए भी सब समान शुद्ध ज्ञानानदमयी भासती हैं–तब समताकी भावना दृढ़ हो जाती है। रागद्वेष मोह अपने आप चले जाते हैं। मात्र पर्यायदृष्टिमे रागद्वेष मोह झलकते हैं। जैसे दूधपानी, सोनाचादी, ताम्बापीतल व वस्त्र मैल मिले हुए भी भेदविज्ञानसे अलग अलग जाननेमे आते हैं वैसे ही चेतन और अचेतन मिले हुए होनेपर भी भिन्न २ जानने मे आते हैं। भेदज्ञानके प्रतापसे निज आत्मा द्रव्यको अलग करके अनुभव किया जाता है तब ही मोहका नाश होता है। इस भेद

विज्ञानकी महिमा स्वामी अमृतचद्रजीने समयसारकलशमे इस भाति दी है—

सम्पद्यते संवर एष साक्षाच्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात् ।
सभेदविज्ञानत एव तस्मात्तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥ ३ ॥

अर्थ :—शुद्धात्म तत्त्वके लाभसे यह सवर होता है सो लाभ भेद विज्ञानके द्वारा ही होता है इसलिये भेद विज्ञानको अच्छी तरह भावना चाहिये ।

श्री नागसेन मुनिने भी तत्त्वानुशासनमे कहा है :—

कर्मजेभ्य' समस्तेभ्यो भावेभ्वो भिन्नमन्वहं ।
ज्ञ स्वभावमुदासीन पश्येदात्मानमात्मना ॥ १६४ ॥

अर्थ —ध्याता अपने आत्माको अपने आत्मा ही के द्वारा सर्व कर्म जनित भावोंसे भिन्न ज्ञान स्वभाव तथा वीतराग स्वरूप सदा अनुभव करे ॥ ६६ ॥

तम्हा जिणमग्गादो गुणेहिं आदं परं च दव्वेसु
अभिगच्छदु णिम्मोहं इच्छदि जदि अप्पणो अप्पा ॥०७॥

तस्माज्जिनमार्गाद्गुणैरात्मान प्रर स्व द्रव्येषु ।
अभिगच्छतु निर्मोहमिच्छति यद्यात्मन आत्मा ॥६७॥

अर्थ —इस गाथामे भी आचार्यने शास्त्र पठन और भेद ज्ञानकी प्रेरणा की है । जो मार्ग या धर्म या उपाय ससारसे उद्धार होनेका श्री जिनेन्द्रोने बताया है वही जिनवाणीमे ऋषियोके द्वारा दर्शाया गया है । इसलिये जिन आगमका भले प्रकार अभ्यास करके लोक जिन छ: द्रव्योका समुदाय है उन छहो द्रव्योकी भले प्रकार उनके सामान्य विशेष'गुणोके द्वारा जानना चाहिये । उन द्रव्योके गुण पर्यायोको अलग अलग समझ लेना चाहिये । यद्यपि अनत

जीव, अनन्त पुद्गल असंख्यात कालाणु, एक धर्मास्तिकाय, एक अधर्मास्तिकाय तथा एक आकाशास्तिकाय परस्पर एक क्षेत्र रहते हुए इस तरह मिल रहे हैं जैसे एक घरमें यदि अनेक दीपक जलाए जाय तो उन सबका प्रकाश सब मिल जाता है तथापि जैसे प्रत्येक दीपकका भिन्न २ है क्योंकि यदि एक दीपकको यहांसे उठा ले जावें तो उसीका प्रकाश उसके साथ अलग होकर चला जायगा, इसी तरह हरएक द्रव्य अपनी अपनी सत्ताको भिन्न २ रखता है कोईकी सत्ता कभी भी किसी अन्य द्रव्यकी सत्तामें मिल नहीं सक्ती ऐसा जानकर अपने जीव द्रव्योंको सबमें अलग ध्यानमें लेना चाहिये तथा उसका जो कुछ निज स्वभाव है उसीपर लक्ष्य देना चाहिये । जीवका निज स्वभाव शुद्ध जलकी तरह निर्मल ज्ञाता दृष्टा वीतराग और आनन्द मई है वही मैं हूं ऐसा अनुभव करना चाहिये । मेरा सम्बन्ध या मोह किसी भी अन्य जीव व सर्व अचेतन द्रव्योंसे नहीं है इसीको भेदज्ञान कहते हैं । इस भेदज्ञानके द्वारा जब आत्मानुभवका अभ्यास किया जाता है तब अवश्य मोहकी ग्रंथी टूट जाती है और यह आत्मा परम निर्मोही वीतरागी तथा शुद्ध होजाता है। जब भेद ज्ञान होजाता है तब ही सम्यक्त भाव प्रगट होजाता है और दर्शन मोहनी उपशम या क्षय हो जाती है फिर कषायके उदयजनित राग द्वेषका अंत पुन २ आत्मभावना या साम्यभाव या शुद्धोपयोगके प्रतापसे हो जाता है तब यह आत्मा पूर्ण वीतरागी हो जाता है ।

ऐसा ही भावनाका उपदेश समयसारजीमें भी आचार्य महाराजने किया है—

अहमिक्को खलु सुद्धो य णिम्ममो णाणदंसणसमग्गो ।
तम्हि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खय णेमि ॥७८॥

अर्थ —यह है कि मैं एक अकेला निश्चयसे शुद्ध हू, ज्ञानदर्शनमे पूर्ण हू-मेरा किसीसे भी ममत्व नही है। इसी अपने स्वभाव मे ठहरा हुआ, उसीमे लीन हुआ मैं इन सर्व मोहादिका क्षय करता हू।

श्री आत्मानुशासनमे श्री गुणभद्राचार्यजीने कहा है —

ज्ञानस्वभाव स्यादात्मा स्वभाव वाप्तिरच्युति ।
तस्म दच्युतिमाकाङ्क्षन् भावयेज् ज्ञानभावनाम् ॥१७४॥
रागद्वेषकृताभ्या जन्तोर्वन्ध प्रवृत्यवृत्ति भ्याम् ।
तत्वज्ञानकृताभ्या ताभ्यामेवेक्ष्यते मोक्ष ॥१८०॥
मोहवीजाद्रतिद्वेषौ वीजान् मुलांकुराविव ।
तस्पाज् ज्ञानाग्निना दाह्यं तदंतौ निर्दिधिक्षुणा ॥१७२॥

अर्थ —आत्मा ज्ञान स्वभाव है, स्वभावकी प्राप्ति मोक्ष है, इसलिये मोक्षका चाहनेवाला ज्ञानभावनाको भावै। रागद्वेपसे हुई प्रवृत्ति या निवृत्तिसे इस जीवके कर्म वध होता है। तत्त्वज्ञानके द्वारा उन राग दोषोसे मोक्ष होजाती है। जैसे वीजसे अकुर फूटते हैं ऐसे ही मोहवीजसे रागद्वेप होते है इसलिये जो रागद्वेपको जलाना चाहे उसे ज्ञानकी अग्नि जलाकर इन दोनोको जला देना चाहिये।

इस तरह स्व परके ज्ञानमे मूढताको हटाते हुए दो गाथाओके द्वारा चौथी ज्ञानकठिका पूर्ण हुई।

इस तरह पच्चीस गाथाओके द्वारा ज्ञानकठिकाका चतुष्टय नाकका दूसरा अधिकार पूर्ण हुआ ॥९७॥

सत्तासंबद्धेदे सविसेसे जो हि णेव सामण्णे ।
सद्दहदि ण सो समणो, तत्तो धम्मो ण संभवदि ॥९८

सत्तासवद्धानेतान् सविशेपान् यो हि नैव श्रामण्ये ।
श्रद्दधाति न स श्रमण. ततो धर्मो न सभवति ॥९८॥

अर्थ —यहा आचार्यने भावकी प्रधानतासे व्याख्यान किया है और यह स्पष्ट कर दिया है कि यथायोग्य भावके विना साधुपना मोक्षका मार्ग नही है और न उससे मोक्ष ही प्राप्त हो सका है। हरएक मनुष्यको जो धर्मपालन करना चाहे सम्यक्तकी आवश्यक्ता है। सम्यग्दर्शन के विना ज्ञान सम्यग्ज्ञान तथा चारित्र सम्यग्चारित्र नहीं होसक्ता है। इसलिये लोकमे जिन छ द्रव्योका कथन श्री जिन आगममें वताया है उनका यथार्थ श्रद्धान होना चाहिये। जगत में पदार्थोंकी सत्ता सामान्य विशेषरूप है। जैसे हाथी शब्दसे सामान्य पने सव हाथियो का वोध होता है परन्तु विशेषपने प्रत्येक हाथीकी सत्ता भिन्न २ है। वृक्ष कहनेमे सर्व वृक्षो की सत्ता जानी जाती हैं, तथापि प्रत्येक वृक्ष अपनी भिन्न २ सत्ता रखता है। इसी तरह द्रव्योमे जो सामान्य गुण व्यापक है जैसे अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, द्रव्यत्व, प्रदेशत्व, अगुरुलघुत्व उन सवकी अपेक्षा द्रव्य एकरूप है तथापि अनेक द्रव्य होने से सव द्रव्य अपने भिन्न २ अस्तित्वको व वस्तुत्व आदिको भी रखते हैं। इस भेदको जानना चाहिये, जैसे महासत्ता एक है तथा अवान्तर सत्ता अनेक है। महावस्तु एक है। विशेष वस्तु अनेक है। इसके सिवाय विशेष गुणोकी अपेक्षा छ द्रव्यों के भेद को भिन्न २ जानना चाहिये। सजातीय अनेक द्रव्योंमें हरएकको सत्ताको भिन्न २ निश्चय करना चाहिये जैसे प्रत्येक जीव स्वभावकी अपेक्षा परस्पर समान हैं परन्तु भिन्न २ सत्ताको सदा ही रखते रहते है, चाहे ससार अवस्थामे हो या मुक्तिकी अवस्थामें हों। पुदग्लके परमाणु यद्यपि मिलकर स्कंध होजाते है तथापि प्रत्येक परमाणु अपनी अपनी भिन्न २ सत्ता रखता है जो परस्पर एक क्षेत्रमें रहते हुए द्रव्योके सामान्य विशेष स्वभावोको निश्चय करके अपने आत्माको अपनी वुद्धिसे भिन्न पहचान लेता है वही सम्यग्दृष्टी व श्रद्धावान है।

वही क्षीर जलकी तरह पुग्दलमे मिश्रित अपने जीवको अलग कर लेता है। इसी श्रद्धावानके सच्चा भेद ज्ञान होता है, और यही जीव साधुपदमे तिष्ठकर अपने आत्माको भिन्न ध्याता हुआ शुद्धोपयोग या साम्यभाव पर आरुढ होकर कर्मवधका क्षय कर सक्ता है। यही धर्मसाधक है क्योकि निश्चयसे अभेदरत्नत्रय स्वरूप अपना आत्मा ही मोक्ष मार्ग है। व्यवहार धर्म निश्चय धर्मका मात्र निमित्त कारण है। इसलिये जिस साधुके भावमे निश्चय धर्म नही है वह द्रव्य लिगी है–भावलिगी नही है। भाव लिंगी हुए विना वह परम सामायिक सयम जो वीतराग भावरूप तथा निज आत्मामे तल्लीनता रूप है नही प्राप्त हो सक्ता है। जहा सामायिक संयम नही वहा मुनिपना कथन मात्र है। साधुपदमे उसी वातको साधन करना है जिसका अपनेको श्रद्धान है। जो निज आत्माको सबसे भिन्न पहचानता है वही भेद भावनाके अभ्याससे निजको परसे छुडा सक्ता है। जैसे जो सुवर्णकी कणिकाओको पहचानता है वही उन कणिकाओको मिट्टीकी कणिकाओके मध्यमेसे चुन सक्ता है इसलिये भावकी प्रधानता ही कार्य्यकारी है ऐसा निश्चय रखना चाहिये। ही श्री अमृतचद्र आचार्यने समयसार कलशमे कहा है —

एको मोक्षपथो य एष नियतो दग्ज्ञप्तिवृत्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च त चेतति ॥
तस्मिन्नेव निरंतरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्यसारमचिरान्नित्योदयं विन्दति ॥ — ॥
ये त्वेनं परिहृत्य संवृतिपथ प्रस्यापिते नात्मना
लिङ्गे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्वावबोधच्युता ।
नित्योद्यो तमखण्डमेकमतुला लोकं स्वभानप्रभा
प्राग्भारं समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यन्ति ते ॥४८॥

व्यवहारविमूढ़दृष्टय· परमार्थं कलयन्ति नो जना
तुपबोधविमुग्धबुद्धय· कलयन्तीह तुषं न तन्दुलम् ॥४६॥

अर्थ —निश्चय करके सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप एक यह आत्मा ही मोक्ष मार्ग है जो कोई उसीमे रात्रि दिन ठहरता है, उसीको ध्याता है, उसीका अनुभव करता है तथा उसीमे ही अन्य द्रव्योको न स्पर्श करता हुआ विहार करता है सो ही अवश्य शीघ्र नित्य उदयरूप शुद्धात्माको प्राप्त कर लेता है। जो कोई व्यवहार मार्गमे अपनेको स्थापित करके इस निश्चय मार्गको छोडकर द्रव्यलिंगमे ममता करते है और तत्त्वज्ञानसे रहित हो जाते है वे अब भी नित्य उद्योतरूप, अखड, एक, अनुपमज्ञानमई स्वभावसे पूर्ण तथा निर्मल समयसारको नही अनुभव करते हैं। जो व्यवहार मार्गमे मूढ बुद्धि है वे मनुष्य निश्चयको नही अभ्यास करते है और न परमार्थको पाते है, जैसे जो चावलकी भूसोमे चावलोका ज्ञान रखते है वे सदा तुपको ही चावल जानते हुए तुपका ही लाभ करते हैं, चावलको कभी नही पाते है।

श्री योगेन्द्रचार्यने योगसारमे यही कहा है—

जो अप्पा सुद्ध वि मुणइ असुहसरीरविभिण्णु।
सो जाणइ सच्छइ मयलु सासयसुक्खहलीणु ॥६४॥
जो ण वि जाणइ अप्प परु ण वि परभाव चएवि।
जो जाणउ सच्छइ सयलु ण हु सिवसुक्क लहेवि ॥६५॥
हिंसादिउ परिहारकरि जो अप्पाहु ठवेइ।
जो वीअउ चारित्त मुणि जो पंचमगइ णेइ ॥१००॥

अर्थ —जो अपने आत्माको अशुचि शरीरसे भिन्न शुद्ध रूप ही अनुभव करता है वही अविनाशी अतींद्रिय सुखमे लीन होता हुआ सर्व शास्त्रोको जानता है। जो आत्मा अनात्माको नही पहचानता है और न परभावको ही त्यागता है वह सर्व शास्त्रोको जानता हुआ भी नहीं जानता हुआ मोक्ष सुखको नही पाता है। जो

साधु हिंसादि पाच पाप त्यागकर अपने आत्माको स्थिर करता है उसीके अनुपम चारित्र होता है और वही पचम गतिको ले जाना है। ऐसा जान शुद्धोपयोगको ही धर्म ज्ञान उसी हीकी निरतर भावना करनी योग्य है ॥ ९८ ॥

जो णिहदमोहदिट्ठी आगमकुसलो विरागचरियम्मि ।
अब्भुट्ठिदो महप्पा, धम्मोत्ति विसेसिदो समणो ॥९९

यो निहतमोहदृष्टिरागमकुशलो विरागचरिते ।
अभ्युत्थितो महात्मा धर्म इति विशेषित श्रमण ॥९९॥

अर्थ :—जो प्रतिज्ञा श्री कुन्दकुन्दाचार्य महाराजने पहले की थी कि शुद्धोपयोग या साम्यभावका मैं आश्रय करता हू, उसीका वर्णन पूर्ण करते हुए इस गाथामे बताया है कि व्यवहार रत्नत्रय द्वारा प्राप्त निश्चय रत्नत्रयमे तिष्ठनेवाला जो शुद्धोपयोग या साम्यभावका धारी साधु है वही सच्चा साधु है तथा वही धर्मात्मा है, वही महात्मा है, वही मोक्षका पात्र है, वही परमात्माका पद अपनेमे प्रकाश करेगा। इस गाथाको कहकर आचार्यने व्यवहार व निश्चय रत्नत्रयको उपयोगिताको बहुत अच्छी तरह बता दिया है। तथा यह भी प्रेरणा की है कि जो स्वाधीन होकर निज आत्मीक सम्पत्तिका बिना किसी बाधाके सदा ही भोग करना चाहते हैं उनको प्रथम शास्त्रज्ञानसे तत्वार्थ श्रद्धान प्राप्तकर निश्चय क्षायिक सम्यक्त प्राप्त करना चाहिये, फिर आगमके अधिक अभ्याससे ज्ञान वैराग्यको बढाते हुए व्यवहार चारित्रके द्वारा वीतराग चारित्रका साधन करना चाहिये। यही साक्षात् मोक्षमार्ग है। यही रत्नत्रयकी एकता है तथा यही स्वात्मानुभव है व यही निर्विकल्प ध्यान है। यही परिणाम कर्मकाष्टके भस्म करनेको अग्निके समान है।

श्री योगेन्द्रदेवने अमृताशीतिमे कहा है —

दृगवगमनवृत्तस्वस्वरूपप्रविष्टो, व्रजति जलधिकल्प ब्रह्मगम्भीरभावं
त्वमपि सुनयमत्वान्मद्वचस्सारमस्मिन् ।
भवसि भव भवान्तस्थायिधामाधिपरत्वम् ॥६३॥
यदि चलति कथञ्चिन्मानसं स्वस्वरूपाद्
भ्रमति वहिरतस्ते सर्वदोषप्रसङ्ग ।
तदनवरतयन्मर्मग्नसविग्नचित्तो ।
भव भवसि भवान्तस्थायिधामाधिपस्त्वम् ॥६४॥

अर्थ :—दर्शन ज्ञान चारित्रमई अपने स्वरूपमे प्रवेश किया हुआ यह आत्मा समुद्र समान ब्रह्मके गभीर भावमे चला जाता है। तू भी मेरे सार वचनको अच्छी तरह मानकर यदि चले तो तू ससारका अतकर मोक्षधामका स्वामी हो जावे, यदि कही अपने निज स्वरूपसे मन चल जाय तो वाहर ही घूमना है, जिससे सर्व दोषोका प्रसग आता है। इसमे निरतर अतरगमे मग्नचित्त होता हुआ तू सिद्धधामका पति होजा ॥६६॥

जो तं दिट्ठा तुट्ठो अब्भुट्ठित्ता करेदि सक्कारं
वंदणणमंसणादिहि तत्तो सो धम्ममादियदि ॥

यो त दृष्ट्वा तुष्ट अभ्युत्थित्वा करोति सत्कार ।
वदननमनादिभि तत सो धर्ममादत्ते ॥ १०० ॥

अर्थ :—द्रव्य और भाव लिंगधारी साधु ही यथार्थमे भक्ति करनेके योग्य है। उनकी भक्तिमे भीतरसे जो प्रेमरूप आसक्ति होती है वही बाहरी भक्तिको वचन तथा कायके द्वारा प्रगट कराती है। उस शुभ भावके निमित्तसे महान पुण्यका लाभ होता है। इसके सिवाय उनका उपदेश व उनकी शात मुद्रा हमे उसी शुद्धोपयोगरूप धर्मको सिखाती है जिससे ग्रहणकर हम भी मोक्षका साधन कर सकें ॥ १०० ॥

तेण णरा व तिरिच्छा, देविं वा माणुसिं गदिं पप्पा ।
विहविस्सरियेहिं सया संपुण्णमणोरहा होंति ॥ १०१ ॥

तेन नरा वा तिर्यन्चो देवी वा मानुषी गति प्राप्य ।
विभवैश्वर्याभ्या सदा सपूर्णमनोरथा भवति ॥ १०१ ॥

अर्थ —आचार्यने इस गाथामे उपासकके लिये धर्म सेवनका फल बताया है तथा यह भी प्रगट किया है कि मोक्षका साक्षात् लाभ वही साधु कर सक्ता है जो निश्चय रत्नत्रयमे लीन होकर शुद्धोपयोगमे स्थिर होता है। वीतराग चारित्रके विना कर्मोका दहन नही हो सक्ता है। तब जो गृहस्थ है या चौथे पाचवें गुणस्थान धारी है उनको क्या फल होगा ? इसके लिये कहा है कि वे मनुष्य या पचेन्द्री सैनी पशु अतिशयकारी पुण्य बाधकर स्वर्गमे जाते है, वहासे आकर उच्च मनुष्यके पद पाकर मुनि हो मोक्ष जाते है, अथवा कोई इसी भावके पीछे मनुष्य हो मुनिव्रत पाल मोक्ष जाते हैं। उपासक या श्रावकका धर्म परम्परा मोक्ष साधक है जब कि साधु का धर्म साक्षात् मोक्ष साधक है। इसका अभिप्राय यह नही है कि सब ही साधु उसी भवसे मोक्ष पा सक्ते हैं- किन्तु यह है कि यदि मोक्ष होगी तो साधु पदमे परम शुक्लध्यान द्वारा ही मोक्ष होगी। वास्तवमे इस शुद्धोपयोगकी भक्ति भी परम-कार्यकारी है ॥ १०१ ॥

इस प्रकार श्री जयसेनाचार्य कृत तात्पर्य वृत्ति टीकामे पूर्वमे कहे प्रमाण "एस सुरासुरमणुसिदवदिय" इस गाथाको आदि लेकर ७२ बहत्तर गाथाओमें शुद्धोपयोगका अधिकार है फिर "देवदजदि गुरु पूजासु" इत्यादि पचीस गाथाओसे ज्ञानकठिका चतुष्टय नामका दूसरा अधिकार है फिर "सत्तासवद्धेदे' इत्यादि सम्यक्दर्शनका कथन करते हुए प्रथम गाथा, तथा रत्नत्रयके धारी पुरुषके ही धर्म सभव है ऐसा कहते हुए "जो णिहदमोहदिट्ठी" इत्यादि दूसरी गाथा है इस तरह दो स्वतत्र गाथाए है। उस निश्चय धर्मधारी तपस्वकी जो कोई भक्ति करता है उसका फल कहते हुए "जो त दिट्ठा" इत्यादि गाथाए दो है, इस तरह दो अधिकारोसे व प्रथक् चार गाथाओसे सब एकसौ एक गाथाओसे यह ज्ञानतत्त्व-प्रतिपादक नामका प्रथम महा अधिकार समाप्त हुआ। □

इस ग्रन्थके ज्ञानतत्त्व नामके महा अधिकारका

सारांश :

आचार्य महाराजने ग्रन्थके आदिमे ही यह प्रतिज्ञा की है कि मैं साम्यभावरूप शुद्धोपयोगका आश्रय लेता हू क्योकि उसीसे निर्वाणका लाभ होता है इसी वातको इस अधिकारमे अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है। निश्चय रत्नत्रयकी एकता मोक्ष मार्ग है। जहा ऐसा परिणाम है उसीको वीतराग चारित्र या मोह क्षोभ रहित साम्यभाव या शुद्ध उपयोग कहते हैं। यह आत्मा परिणामी है, इसके तीन प्रकारके परिणाम हो सक्ते हैं–शुद्धोपयोग, शुभोपयोग, और अशुभोपयोग। शुद्धोपयोग मोक्षसाधक है। रूप, मदकषाय अर्हत् भक्ति रूप, दान पूजा वैयावृत्त्य परोपकाररूपभाव शुभोपयोग है, जिससे स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है। और हिंसा असत्य, तीव्र विषयानुराग, आर्त्तपरिणाम, अपकार आदि तीव्र कपाय रूप परिणाम अशुभोपयोग है–यह नर्क या तिर्यंच या कुमानुपके जन्ममे प्राप्त करानेवाला है, अत यह सर्वथा त्यागने योग्य है। तथा शुभोपयोग, शुद्धोपयोगके लाभके लिये तथा शुद्धोपयोग साक्षात् ग्रहण करने योग्य है। आत्माका निज आनन्द जो निराकुल तथा स्वाधीन है, शुद्धोपयोगके द्वारा ही प्राप्त होता है। इसी शुद्धोपयोगके द्वारा यह आत्मा स्वय अरहत परमात्मा होजाता है। ऐसे केवलज्ञानीके क्षुधा तृषा आदिकी बाधा नही होती है और न इच्छापूर्वक वचन तथा कायकी क्रियाए होती है,

क्योकि उनके मोहनीय कर्मका सर्वथा क्षय हो गया है। उनके तथा अन्य जीवोके पुण्य कर्मके उदयसे विना इच्छाके ही प्रभुकी वाणी खिरती है व उपदेशार्थ विहार होता है। केवलज्ञानीके अतीद्रिय ज्ञान प्रत्यक्ष होता है जिसकी महिमा वचन अगोचर है, उस ज्ञानमे सर्व जानने योग्य सर्व द्रव्योके सर्व गुण पर्याय एक समयमे विना किसी क्रमके झलकते हैं। उनको जाननेके लिये किसी तरहका खेद नही करना पडता है और न इद्रियोकी सहायता ही लेनी पडती है, न कोई आकुलता ही होती है—वह केवलज्ञानी पूर्णपने निराकुल रहते है—उनका ज्ञान यद्यपि प्रदेशो की अपेक्षा आत्माके ही भीतर है परन्तु सर्व जाननेकी अपेक्षा सर्व गत या सर्वव्यापी है। इसी सर्वव्यापी ज्ञानकी अपेक्षासे केवली भगवानको भी सर्वव्यापी कह सक्ते हैं। केवली महाराजके अनत सुख भी अपूर्व है जिसमे कोई पराधीनता, विसमता व क्षणभगुरता व अन्तपना नही है। यह सुख प्रत्यक्ष आत्माका स्वभाव हैं, इन्द्रियोके द्वारा सुख वास्तवमे दु ख हैं क्योकि दु खोके कारण कर्मोको बाधनेवाला है, पराधीन है, अतृप्तिकारी है, क्षणभगुर है और नाश सहित है। केवली महाराज प्रत्यक्ष ज्ञान व सुखके भडार है। शुद्धोपयोगके फलसे केवली परमात्मा हो फिर शेष कर्म नाशकर सिद्ध परमात्मा हो जाते है। यह शुद्धोपयोग श्रुतज्ञान द्वारा प्राप्त होता है। श्रुतज्ञान शास्त्रोके द्वारा वैसा ही पदार्थोका स्वरूप जानता है जैसा केवली महाराज जानते है अतर मात्र परोक्ष या प्रत्यक्षका है। तथा परोक्ष श्रुतज्ञान अपूर्ण है अस्पष्ट है जब कि केवलज्ञान पूर्ण और स्पष्ट है तथापि आत्मा और अनात्माका स्वरूप जैसे केवलज्ञानी जानते है वैसा ही श्रुतज्ञानी जानते है। इसी यथार्थ आगम ज्ञानके द्वारा भेद विज्ञान होता है तव अपने आत्माका सर्व अन्य

द्रव्योंसे पृथक पनेका निश्चय होता है, ऐसा निश्चय करके जब कोई आगममे कुशलता रखता हुआ मोहके कारणो को त्यागकर निर्ग्रंथ हो अपने उपयोगको शुद्धात्माके सन्मुख करता है तब वह निश्चय रत्नत्रयकी एकता रूप शुद्धोपयोगको पाता है। वह आत्मा कूटस्थ नही है किन्तु परिणमनशील है। जब यह शुद्ध भावमे न परिणमन करके रागद्वेष मोह रूप परिणमन करती है तब इसके कर्मोका बंध होता है, जिस बन्धमे यह जीव ससारसागरमे गोता लगाता हुआ चारो गतियोमे महादुखको प्राप्त होता है, इसलिये आचार्यने शिक्षा दी है कि मोहका नाश करके फिर रागद्वेषका क्षय करना चाहिये। जिसके लिये जिन आगमके अभ्यासको बहुत ही उपयोगी बताया है और बराबर प्रेरणा की है कि जो मोक्षका स्वाधीन सुख प्राप्त करना चाहता है उसको शास्त्रका पठन व मनन अच्छी तरह करके छ द्रव्योके सामान्य व विशेष स्वभावोको अलग २ पहचानना चाहिये। और फिर निज आत्माका स्वभाव भिन्न देखकर उसको पृथक् मनन करना व उसका ध्यान करना चाहिये। आत्मध्यान ही रागद्वेष मोहका विलय करनेवाला है।

स्वामीने यह भी बताया है कि आत्मा मे सुख स्वभाव से ही है। जो सुख इन्द्रियो के द्वारा मालूम होता है वह भी अपनी कल्पना मे रागके कारण से भोगने मे आता है। शरीर व विषय के पदार्थ सुख नही देते हैं। सासारिक सुख भोगने की एक प्रकार तृष्णाकी दाह होती है। इसकी शातिके लिये इन्द्रादिक देव व चक्रवर्ती आदि भी विषयसुख भोगते हैं परन्तु वह तृष्णा विषयभोग मे कभी भी शात नही होती है उलटी बढती जाती है। उसकी शातिका उपाय निज आत्माके मननसे उत्पन्न समतारूपी अमृतका पान है आत्मसुख उपादेय है, विषयसुख हेय है, ऐसा जो शृद्धानमे

लाता है वही सम्यग्दृष्टी है । वही मोहका नाशकर देहके द्वारा होने वाले सर्व दु खोको मेट देता है । जो अरहत परमात्माके द्रव्यगुण पर्यायको पहचानता है वही अपने आत्माको जानता है । जो निश्चय नय से अपने आत्माको जानकर भेदज्ञानके द्वारा आपमे ठहर जाता है वही निश्चय रत्नत्रयरूप मोक्षके कारण भाव को प्राप्तकर लेता है । ऐसे भावको समझकर जो साधु अवस्थामे साधु का चारित्र पालता हुआ वीतराग चारित्ररूप होकर निजानन्दका स्वाद पाता है वही यथार्थमे भाव मुनि है जिसके निश्चय चारित्र नही है वह द्रव्यलिगी है तथा मोक्षमार्गमे गमन करनेवाला नही है । श्री अरहत भगवान और भावश्रमण ही वारवार नमस्कार करने व भक्ति करनेके योग्य है । उपासक इनकी यथार्थ सेवा करके पुण्य बाध उत्तम देव या मनुष्य होकर परम्पराय मोक्ष के पात्र हो जाते हैं ।

इस ग्रन्थमे आचार्यने शुद्धोपयोग या साम्यभावकी यत्रतत्र महिमा कहकर रागद्वेष मोह तज आत्मज्ञान व आत्मध्यान करनेकी और जीवको लगाकर समताके रमणीक परम शातसमुद्रमे स्नान करनेकी प्रेरणा की है । यही इस ग्रन्थका सार है । जो कोई वार-वार भाषाटीकाको पढेगे उनको आत्मलाभ होगा ।